विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मपद

(हिन्दी अनुवाद सहित)

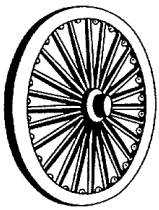

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

धम्मपद
पुस्तक कोड: H39

© विपश्यना विशोधन विन्यास
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : २००१
संस्करण : २००७, २०१०, २०१२
पुनर्मुद्रण : अगस्त २०१५, अप्रैल २०१९
द्वितीय संस्करण : मई २०२३
तृतीय संस्करण : जनवरी २०२६

मूल्य: रु.
Price: Rs.

ISBN 81-7414-217-7

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२४०३
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोन: ०२५५३-२४४९९८, २४३५५३, २४४०७६, २४४०८६,
८४८४८३४८३७, ८४८४८३७८३५,
८४८४८३९८३७, ८४८४८३१८३५
Email: vri_admin@vridhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रक:
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

धम्मपद

विषय-सूची

प्राक्कथन V

१. यमकवग्गो १

२. अप्पमादवग्गो ५

३. चित्तवग्गो ८

४. पुप्फवग्गो १०

५. बालवग्गो १३

६. पण्डितवग्गो १६

७. अरहन्तवग्गो १९

८. सहस्सवग्गो २१

९. पापवग्गो २४

१०. दण्डवग्गो २७

११. जरावग्गो ३०

१२. अत्तवग्गो ३२

१३. लोकवग्गो ३४

१४. बुद्धवग्गो ३६

१५. सुखवग्गो ३९

१६. पियवग्गो ४२

१७. कोधवग्गो ४५
१८. मलवग्गो ४८
१९. धम्मट्ठवग्गो ५२
२०. मग्गवग्गो ५५
२१. पकिण्णकवग्गो ५९
२२. निरयवग्गो ६२
२३. नागवग्गो ६५
२४. तण्हावग्गो. ६८
२५. भिक्खुवग्गो ७३
२६. ब्राह्मणवग्गो ७८
धम्मपदे वग्गानमुद्दानं ८७
गाथानमुद्दानं ८८
परिशिष्ट-१ . . . . . ८९
विपश्यना साधना केंद्र ९४

प्राक्कथन

भगवान बुद्ध की अमर वाणी 'धम्मपद' का भाषानुवाद आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। विश्वभर के लोकप्रिय ग्रंथों में इसका बहुत ऊंचा स्थान है। विपश्यना के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसकी लोकप्रियता और भी बढ़ती चली जायगी, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

कल्याणमित्र विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्काजी दस-दिवसीय विपश्यना शिविरों में साधना पक्ष को समझाने के लिए इसमें से बहुत से उद्धरण देते हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि आपके लिए इस ग्रंथ का कितना महत्त्व है। ध्यान से देखा जाय तो इसकी एक-एक गाथा साधना पक्ष को मजबूत करने वाली और अगाध प्रेरणा जगाने वाली है।

'धम्मपद' में समूची बुद्धवाणी की कुंजी भी उपलब्ध है –

"यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, अफला होति अकुब्बतो॥

(गाथा ५१)

"यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सुगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥"

(गाथा ५२)

"जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त होने पर भी गंधरहित हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध-)वाणी होती है फलरहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) न करे।

"जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त हो और सुगंध वाला हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध-)वाणी होती है फलसहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) करने वाला हो।"

इस प्रकार बुद्धवाणी फलप्रद तभी होती है जब कोई इसके अनुसार आचरण करे, इसे अनुभूति पर उतारे। यही बुद्धवाणी की कुंजी है।

उदाहरण –

"'सब्बे सङ्खारा अनिच्चाति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥"

(गाथा २७७)

"'सारे संस्कार अनित्य हैं' (याने जो कुछ उत्पन्न होता है वह नष्ट होता ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-)प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको दुःखों का निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) – ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!"

यदि कोई इस गाथा का दस, बीस, पचास या सौ बार पाठ ही करता रहे, तो इससे कोई लाभ नहीं होता; केवल बुद्धि का यत्किंचित परिष्कार होता है। जब इसी को अनुभूति पर उतार लेते हैं, तब अपरिमित कल्याण होने लगता है, सारे दुःखों से मुक्त होने का रास्ता मिल जाता है।

'धम्मपद' में ऐसी गाथाओं की भरमार है। इसीलिए विपश्यना विशोधन विन्यास ने बुद्धवाणी में से सर्वप्रथम इसी ग्रंथ का भाषानुवाद करने का निर्णय लिया। अब शनैः शनैः अन्यान्य ग्रंथों के भाषानुवाद का कार्य भी हाथ में लिया जायगा।

इस ग्रंथ में किये गये अनुवाद को आपके लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। अनुवाद सरल भाषा में है जिसे हर कोई समझ सके। साधना पक्ष को उजागर करने की भी पूरी चेष्टा की गयी है। गाथाओं के तात्पर्य को समझाने के लिए प्रचुर सामग्री कोष्ठकों में डाली गयी है। 'परिशिष्ट' के रूप में "धम्मपद" की गाथाओं से मेल खाते कल्याणमित्र द्वारा विरचित हिंदी **राजस्थानी दोहों** को भी ग्रंथ में सम्मिलित किया गया है जो न केवल प्रेरणादायक सामग्री का काम करते हैं बल्कि अपने अनूठेपन के कारण ग्रंथ की शोभा को भी चार चांद लगाते हैं।

ध्यान रहे कि समूची बुद्धवाणी को 'तिपिटक' के नाम से जाना जाता है। 'तिपिटक' के तीन बड़े विभाजन हैं – (१) विनयपिटक, (२) सुत्तपिटक तथा (३) अभिधम्मपिटक। इनमें से 'सुत्तपिटक' के अंतर्गत पांच निकाय हैं – दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय तथा खुद्दकनिकाय। 'खुद्दकनिकाय' के अंतर्गत १९ ग्रंथ हैं। इन १९ ग्रंथों में से एक है – 'धम्मपद'।

इस ग्रंथ का पालि-पाठ म्यंमा देश में सन १९५४-५६ में संपन्न हुए छट्ठ संगायन में स्वीकृत पाठ का अनुगामी है। इसी कारण यह सर्वथा प्रामाणिक है।

आशा है इस अनमोल ग्रन्थ का प्रकाशन विपश्यी साधकों, साधिकाओं, धर्म में अभिरूचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए लाभप्रद होगा।

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी

धम्मपद

१. यमकवग्गो

१. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कंव वहतो पदं॥

मन सभी धर्मों (प्रवृत्तियों) का अगुआ है, मन ही प्रधान है, सभी धर्म मनोमय हैं। जब कोई व्यक्ति अपने मन को मैला करके कोई वाणी बोलता है, अथवा शरीर से कोई कर्म करता है, तब दुःख उसके पीछे ऐसे हो लेता है, जैसे गाड़ी के चक्के बैल के पैरों के पीछे-पीछे हो लेते हैं।

२. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छायाव अनपायिनी॥

मन सभी धर्मों (प्रवृत्तियों) का अगुआ है, मन ही प्रधान है, सभी धर्म मनोमय हैं। जब कोई व्यक्ति अपने मन को उजला रख कर कोई वाणी बोलता है, अथवा शरीर से कोई कर्म करता है, तब सुख उसके पीछे ऐसे हो लेता है जैसे कभी संग न छोड़ने वाली छाया संग-संग चलने लगती है।

३. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति॥

'मुझे कोसा', 'मुझे मारा', 'मुझे हराया', 'मुझे लूटा' - जो मन में ऐसी गांठें बांधते रहते हैं, उनका वैर शांत नहीं होता।

४. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नुपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति॥

'मुझे कोसा', 'मुझे मारा', 'मुझे हराया', 'मुझे लूटा' – जो मन में ऐसी गांठें नहीं बांधते हैं, उनका वैर शांत हो जाता है।

५. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥

यहां (इस लोक में) कभी भी वैर से वैर शांत नहीं होते, बल्कि अवैर से शांत होते हैं। यही सनातन धर्म है।

६. परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा॥

अनाड़ी लोग नहीं जानते कि हम यहां (इस संसार) से जाने वाले हैं। जो इसे जान लेते हैं उनके झगड़े शांत हो जाते हैं।

७. सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि चामत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खंव दुब्बलं॥

अच्छी लगने वाली चीजों को शुभ ही शुभ देखते विहार करने वाले, इंद्रियों में असंयत, भोजन की मात्रा के अजानकार, आलसी और उद्योगहीन को मार ऐसे सताता है जैसे दुर्बल वृक्ष को मारुत (पवन)।

८. असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलंव पब्बतं॥

अशुभ को अशुभ जान कर साधना करने वाले, इंद्रियों में सुसंयत, भोजन की मात्रा के जानकार, श्रद्धावान और उद्योगरत को मार उसी प्रकार नहीं डिगा सकता जैसे कि वायु शैल पर्वत को।

९. अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥

जिसने कषायों (चित्तमलों) का परित्याग नहीं किया है पर कषाय वस्त्र धारण किये हुए है, वह संयम और सत्य से परे है। वह कषाय वस्त्र (धारण करने) का अधिकारी नहीं है।

१०. यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥

जिसने कषायों (चित्तमलों) को निकाल बाहर किया है, शीलों में प्रतिष्ठित है,

संयम और सत्य से युक्त है, वह निःसंदेह काषाय वस्त्र (धारण करने) का अधिकारी है।

११. असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासङ्कप्पगोचरा॥

जो निःसार को सार और सार को निःसार समझते हैं, ऐसे गलत चिंतन में लगे हुए व्यक्तियों को सार प्राप्त नहीं होता।

१२. सारञ्च सारतो ञत्वा, असारञ्च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा॥

सार को सार और निःसार को निःसार जान कर शुद्ध चिंतन वाले व्यक्ति सार को प्राप्त कर लेते हैं।

१३. यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति॥

जैसे बुरी तरह छाये हुए घर में वर्षा का पानी घुस जाता है, वैसे ही अभावित चित्त में राग घुस जाता है।

१४. यथा अगारं सुछन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति॥

जैसे अच्छी तरह छाये हुए घर में वर्षा का पानी नहीं घुस पाता है, वैसे ही (शमथ और विपश्यना से) अच्छी तरह भावित चित्त में राग नहीं घुस पाता है।

१५. इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो॥

यहां (इस लोक में) शोक करता है, मरणोपरांत (परलोक में) शोक करता है, पाप करने वाला (व्यक्ति) दोनों जगह शोक करता है। वह अपने कर्मों की मलिनता देख कर शोकापन्न होता है, संतापित होता है।

१६. इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥

यहां (इस लोक में) प्रसन्न होता है, मरणोपरांत (परलोक में) प्रसन्न होता है, पुण्य किया हुआ व्यक्ति दोनों जगह प्रसन्न होता है। वह अपने कर्मों की शुद्धता (पुण्यकर्मसंपत्ति) देख कर मुदित होता है, प्रमुदित होता है।

१७. इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
"पापं मे कत"न्ति तप्पति, भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो॥

यहां (इस लोक में) संतप्त होता है, प्राण छोड़ कर (परलोक में) संतप्त होता है। पापकारी दोनों जगह संतप्त होता है। 'मैंने पाप किया है' - इस (चिंतन) से संतप्त होता है (और) दुर्गति को प्राप्त होकर और भी (अधिक) संतप्त होता है।

१८. इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
"पुञ्ञं मे कत"न्ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो॥

यहां (इस लोक में) आनंदित होता है, प्राण छोड़ कर (परलोक में) आनंदित होता है। पुण्यकारी दोनों जगह आनंदित होता है। 'मैंने पुण्य किया है' - इस (चिंतन) से आनंदित होता है (और) सुगति को प्राप्त होने पर और भी (अधिक) आनंदित होता है।

१९. बहुम्पि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपोव गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति॥

धर्मग्रंथों (तिपिटक) का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्मग्रंथों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता।

२०. अप्पम्पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं,सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति॥

धर्मग्रंथों का भले थोड़ा ही पाठ करे, लेकिन यदि वह (व्यक्ति) धर्म के अनुकूल आचरण करने वाला होता है, तो राग, द्वेष और मोह को त्याग कर, संप्रज्ञानी बन, भली प्रकार विमुक्त चित्त वाला होकर, इहलोक अथवा परलोक में कुछ भी आसक्ति न करता हुआ श्रमणत्व का भागी हो जाता है।

यमकवग्गो पठमो निट्ठितो।

२. अप्पमादवग्गो

२१. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥

प्रमाद न करना अमृत (निर्वाण) का पद है और प्रमाद मृत्यु का पद। प्रमाद न करने वाले (कभी) मरते नहीं और प्रमादी (तो) मरे-समान होते हैं।

२२. एवं विसेसतो ञत्वा, अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रता॥

ज्ञानी जन अप्रमाद के बारे में इस प्रकार विशेष रूप से जान कर आर्यों की गोचरभूमि में रमण करते हुए अप्रमाद में प्रमुदित होते हैं।

२३. ते झायिनो साततिका, निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥

वे सतत ध्यान करने वाले, नित्य दृढ़ पराक्रम करने वाले, धीर पुरुष उत्कृष्ट योगक्षेम वाले निर्वाण को प्राप्त (अर्थात, इसका साक्षात्कार) कर लेते हैं।

२४. उट्ठानवतो सतीमतो, सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
सञ्ञतस्स धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति॥

उद्योगशील, स्मृतिमान, शुचि (दोषरहित) कर्म करने वाले, सोच-समझ कर काम करने वाले, संयमी, धर्म का जीवन जीने वाले, अप्रमत्त (व्यक्ति) का यश खूब बढ़ता है।

२५. उट्ठानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति॥

मेधावी (पुरुष) उद्योग, अप्रमाद, संयम तथा (इंद्रियों के) दमन द्वारा (अपने लिए ऐसा) द्वीप बना ले जिसे (चार प्रकार के क्लेशों की) बाढ़ आप्लावित न कर सके।

२६. पमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादञ्च मेधावी, धनं सेट्ठंव रक्खति॥

मूर्ख, दुर्बुद्धि जन प्रमाद में लगे रहते हैं, (जबकि) मेधावी श्रेष्ठ धन के समान अप्रमाद की रक्षा करता है।

२७. मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं॥

प्रमाद मत करो और न ही कामभोगों में लिप्त होओ, क्योंकि अप्रमादी ध्यान करते हुए महान (निर्वाण) सुख को पा लेता है।

२८. पमादं अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठोव भूमट्ठे, धीरो बाले अवेक्खति॥

जब कोई समझदार व्यक्ति प्रमाद को अप्रमाद से परे धकेल देता (अर्थात, जीत लेता) है, तब वह प्रज्ञारूपी प्रासाद पर चढ़ा हुआ शोकरहित हो जाता है। (ऐसा) शोकरहित धीर (मनुष्य) शोकग्रस्त (विमूढ़) जनों को ऐसे ही (करुण भाव से) देखता है जैसे कि पर्वत पर खड़ा हुआ (कोई व्यक्ति) धरती पर खड़े हुए लोगों को देखे।

२९. अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्संव सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो॥

प्रमाद करने वालों में अप्रमादी (क्षीणाश्रव) तथा (अज्ञान की नींद में) सोये लोगों में (प्रज्ञा में) अतिसचेत उत्तम प्रज्ञा वाला (दूसरों को) पीछे छोड़ कर (ऐसे आगे निकल जाता है) जैसे शीघ्रगामी अश्व दुर्बल अश्व को।

३०. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा।

अप्रमाद के कारण इंद्र देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ। (पंडित जन) अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं, और प्रमाद की सदा निंदा होती है।

३१. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
संयोजनं अणुं थूलं, डहं अग्गीव गच्छति॥

जो साधक अप्रमाद में रत रहता है, या प्रमाद में भय देखता है, वह अपने छोटे-बड़े सभी (कर्म-संस्कारों के) बंधनों को आग की भांति जलाते हुए चलता है।

३२. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहानाय, निब्बानस्सेव सन्तिके।

जो साधक अप्रमाद में रत रहता है, या प्रमाद में भय देखता है, उसका पतन नहीं हो सकता। वह (तो) निर्वाण के समीप (पहुँचा हुआ) होता है।

अप्पमादवग्गो दुतियो निट्ठितो।

३. चित्तवग्गो

३३. फन्दनं चपलं चित्तं, दूरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारोव तेजनं॥

चंचल, चपल, कठिनाई से संरक्षण और कठिनाई से (ही) निवारण योग्य चित्त को मेधावी (पुरुष) वैसे ही सीधा करता है जैसे बाण बनाने वाला बाण को।

३४. वारिजोव थले खित्तो, ओकमोकतउब्भतो।
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहातवे॥

जैसे जल से निकाल कर धरती पर फेंकी गयी मछली तड़फड़ाती है, वैसे ही मार के फंदे से निकलने के लिए यह चित्त (तड़फड़ाता है)।

३५. दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं॥

ऐसे चित्त का दमन करना अच्छा है जिसको वश में करना कठिन है, जो शीघ्रगामी है और जहां चाहे वहां चला जाता है। दमन किया गया चित्त सुख देने वाला होता है।

३६. सुदुद्दसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं॥

जो बड़ा दुर्दर्श है, कठिनाई से दिखाई पड़ने वाला है, बड़ा चालाक है, जहां चाहे वहीं जा पहुँचता है, समझदार (व्यक्ति) को चाहिए कि (ऐसे) चित्त की रक्षा करे। सुरक्षित चित्त बड़ा सुखदायी होता है।

३७. दूरङ्गमं एकचरं, असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं संयमेस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना॥

जो (कोई) (पुरुष, स्त्री, गृहस्थ अथवा प्रव्रजित) दूरगामी, अकेला विचरने वाले, शरीर-रहित, गुहाशायी चित्त को संयमित करेंगे, वे मार के बंधन से मुक्त हो जायेंगे।

३८. अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति॥

जिसका चित्त अस्थिर है, जो सद्धर्म को नहीं जानता, जिसकी श्रद्धा दोलायमान (डांवाडोल) है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं हो सकती।

३९. अनवस्सुत चित्तस्स, अनन्वाहत चेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं॥

जिसके चित्त में राग नहीं, जिसका चित्त द्वेष से रहित है, जो पाप-पुण्य-विहीन है, उस सजग रहने वाले (क्षीणाश्रव) को कोई भय नहीं होता।

४०. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञावुधेन, जितञ्च रक्खे अनिवेसनो सिया॥

इस शरीर को घड़े के समान (भंगुर) जान, और इस चित्त को गढ़ के समान (रक्षित और दृढ़) बना, प्रज्ञारूपी शस्त्र के साथ मार से युद्ध करे। (उसे) जीत लेने पर भी (चित्त की) रक्षा करे और अनासक्त बना रहे।

४१. अचिरं वतयं कायो, पथविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो, निरत्थंव कलिङ्गरं॥

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित होकर निरर्थक काठ के टुकड़े की भांति पृथ्वी पर पड़ रहेगा।

४२. दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥

शत्रु शत्रु की अथवा वैरी वैरी की जितनी हानि करता है, कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त उससे (कहीं) अधिक हानि करता है।

४३. न तं माता पिता कयिरा, अञ्ञे वापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे॥

जितनी (भलाई) न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बंधु, उससे (कहीं अधिक) भलाई सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।

चित्तवग्गो ततियो निट्ठितो।

४. पुप्फवग्गो

४४. को इमं पथविं विचेस्सति, यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥

कौन है जो इस (आत्मभाव अथवा अपनापे रूपी) पृथ्वी, और देवताओं सहित इस यमलोक को (बींध कर इनका) साक्षात्कार कर लेगा? कौन कुशल (व्यक्ति) भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भांति (चयन करते हुए इनको भी बींध कर इनका) साक्षात्कार कर पायगा?

४५. सेखो पथविं विचेस्सति, यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥

शैक्ष्य (निर्वाण की खोज में लगा हुआ व्यक्ति) ही पृथ्वी पर, और देवताओं सहित इस यमलोक पर, विजय पायगा। शैक्ष्य (ही) भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भांति चयन करेगा।

४६. फेणूपमंकायमिमंविदित्वा,मरीचिधम्मंअभिसम्बुधानो।
छेत्वानमारस्सपपुप्फकानि,अदस्सनंमच्चुराजस्सगच्छे॥

इस शरीर को फेन (झाग) के समान (या) (मरु-)मरीचिका के समान (निःसार) जान कर मार के फंदों को काट कर मृत्युराज की दृष्टि से ओझल रहे।

४७. पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघोव, मच्चु आदाय गच्छति॥

(कामभोगरूपी) पुष्पों को चुनने वाले, आसक्तियों में डूबे हुए मनुष्य को मृत्यु (वैसे ही) पकड़ कर ले जाती है जैसे सोये हुए गांव को (नदी की) बड़ी बाढ़ (बहा ले जाती है)।

४८. पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तञ्ञेव कामेसु, अन्तको कुरुते वसं॥

(कामभोगरूपी) पुष्पों को चुनने वाले, आसक्तियों में डूबे हुए मनुष्य को (जबकि अभी वह) कामनाओं से तृप्त नहीं हुआ है, यमराज अपने वश में कर लेता है।

४९. यथापि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धमहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥

जैसे भ्रमर फूल के वर्ण और गंध को क्षति पहुँचाये बिना रस को लेकर चल देता है, वैसे ही गांव में मुनि भिक्षाटन करे।

५०. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनोव अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च॥

दूसरों के परुष (मर्मच्छेदक) वचनों पर ध्यान न दे, न दूसरों के कृत-अकृत को देखे, (तद्विपरीत) अपने (ही) कृत-अकृत को देखे।

५१. यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, अफला होति अकुब्बतो॥

जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त होने पर भी गंधरहित हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध) वाणी होती है फलरहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) न करे।

५२. यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सुगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥

जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त हो और (सु-) गंध वाला हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध) वाणी होती है फलसहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) करने वाला हो।

५३. यथापि पुप्फरासिम्हा, कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन, कत्तब्बं कुसलं बहुं॥

जैसे (कोई व्यक्ति) पुष्प-राशि से बहुत सी मालाएं बनाये, ऐसे ही उत्पन्न हुए प्राणी को बहुत-सा कुशलकर्म (पुण्य) करना चाहिए।

५४. न पुप्फगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति, सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवायति॥

फूल की गंध हवा की विपरीत दिशा में नहीं जाती, न चंदन की, न तगर की, सत्पुरुष के 'शील' की गंध हवा की विपरीत दिशा में भी जाती है, सत्पुरुष के 'शील' की गंध सभी दिशाओं में सुगंधि फैलाती है।

५५. चन्दनं तगरं वापि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो॥

तगर और चंदन की गंध, उत्पल (कमल) और चमेली की गंध - इन भिन्न-भिन्न सुगंधियों से शील की गंध अधिक श्रेष्ठ है।

५६. अप्पमत्तो अयं गन्धो, य्वायं तगरचन्दनं।
यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो॥

तगर और चंदन की जो यह गंध फैलती है, वह अल्पमात्र है, और जो यह शीलवानों की गंध है, वह उत्तम (गंध) देवताओं में फैलती है।

५७. तेसं सम्पन्नसीलानं, अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं, मारो मग्गं न विन्दति॥

जो शीलसंपन्न हैं, प्रमादरहित होकर विहार करते हैं, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुके हैं, उनके मार्ग को मार नहीं देख पाता।

५८. यथा सङ्कारठानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं॥

५९. एवं सङ्कारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने।
अतिरोचति पञ्ञाय, सम्मासम्बुद्धसावको॥

जिस प्रकार महापथ पर फैंके गये कचरे के ढेर में पवित्र गंध वाला मनोरम पद्म उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार (कचरे के समान) भगवान सम्यक्-संबुद्ध का श्रावक भी अपनी प्रज्ञा से अंधे पृथग्जनों के बीच अत्यंत शोभायमान होता है।

पुप्फवग्गो चतुत्थो निट्ठितो।

५. बालवग्गो

६०. दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं॥

जागने वाले की रात लंबी हो जाती है, थके हुए का योजन लंबा हो जाता है। सद्धर्म को न जानने वाले मूर्ख (व्यक्तियों) के लिए संसार (-चक्र) लंबा हो जाता है।

६१. चरञ्चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता॥

यदि विचरण करते हुए (शील, समाधि, प्रज्ञा में) अपने से श्रेष्ठ या अपने सदृश (सहचर) न मिले, तो दृढता के साथ अकेला ही विचरण करे। मूर्ख (व्यक्ति) से सहायता नहीं मिल सकती।

६२. पुत्ता मत्थि धनमत्थि, इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं॥

'मेरे पुत्र!' 'मेरा धन!' - इस (मिथ्या चिंतन) में ही मूढ़ व्यक्ति व्याकुल बना रहता है। अरे, जब यह (तन और मन का) अपनापा ही अपना नहीं है, तो कहां 'मेरे पुत्र!'? कहां 'मेरा धन!?

६३. यो बालो मञ्ञति बाल्यं, पण्डितो वापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी, स वे "बालो"ति वुच्चति॥

जो मूढ़ होकर (अपनी) मूढ़ता को स्वीकारता है, वह इस (अंश) में पंडित (ज्ञानी) है; और जो मूढ़ होकर (अपने आप को) पंडित मानता है, वह 'मूढ़' ही कहा जाता है।

६४. यावजीवम्पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा॥

चाहे मूढ़ (व्यक्ति) जीवन-भर पंडित की सेवा में रहे, वह धर्म को (वैसे ही) नहीं जान पाता जैसे कलुछी सूप के रस को।

६५. मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा॥

चाहे विज्ञ पुरुष मुहूर्त्त भर ही पंडित की सेवा में रहे, वह शीघ्र ही धर्म को (वैसे) जान लेता है जैसे जिह्वा सूप के रस को।

६६. चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं, यं होति कटुकप्फलं॥

बाल-बुद्धि वाले मूर्ख जन अपने ही शत्रु बन कर आचरण करते हैं और ऐसे पापकर्म करते हैं जिनका फल (स्वयं उनके अपने लिए ही) कड़ुवा होता है।

६७. न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाकं पटिसेवति॥

वह किया हुआ कर्म ठीक नहीं जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसके फल को अश्रुमुख हो रोते हुए भोगना पड़े।

६८. तञ्च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति॥

और वह किया हुआ कर्म ठीक होता है जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसके फल को प्रसन्नचित्त होकर अच्छे मन से भोगा जा सके।

६९. मधुवा मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, बालो दुक्खं निगच्छति॥

जब तक पाप का फल नहीं आता तब तक मूढ़ (व्यक्ति) उसे मधु के समान (मधुर) मानता है, और जब पाप का फल आता है तब (वह) मूढ़ दुःखी होता है।

७०. मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खातधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥

चाहे मूढ़ (व्यक्ति) महीना-महीना (के अंतराल) पर केवल कुश की नोक से भोजन करे, तो भी वह धर्मवेत्ताओं (की कुशल चेतना) के सोलहवें भाग की बराबरी भी नहीं कर सकता।

७१. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरंव मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्मच्छन्नोव पावको॥

जैसे ताजा दूध शीघ्र नहीं जमता, उसी तरह किया गया पाप कर्म शीघ्र (अपना) फलें नहीं लाता। राख से ढंकी आग की तरह जलता हुआ वह मूर्ख का पीछा करता है।

७२. यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं॥

मूढ़ का जितना भी ज्ञान है (वह उसके) अनिष्ट के लिए होता है। वह उसकी मूर्धा (सिर=प्रज्ञा) को गिरा कर उसके कुशल कर्मों का नाश कर डालता है।

७३. असन्तं भावनमिच्छेय्य, पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं, पूजा परकुलेसु च॥

(मूढ़ व्यक्ति) जो नहीं है उसकी संभावना जगाता है, भिक्षुओं में अग्रणी (बनना चाहता है), संघ के आवासों (विहारों) का स्वामित्व (चाहता है) और पराये कुलों में आदर-सत्कार की कामना करता है।

७४. ममेव कत मञ्ञन्तु, गिहीपब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु, किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।
इति बालस्स सङ्कप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति॥

गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें, किसी भी कृत्य-अकृत्य में मेरे ही वशवर्ती रहें - ऐसा मूढ़ (व्यक्ति) का संकल्प होता है। (इससे) उसकी इच्छा और अभिमान का संवर्द्धन होता है।

७५. अञ्ञा हि लाभूपनिसा, अञ्ञा निब्बानगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेकमनुब्रूहये॥

लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाण की ओर ले जाने वाला दूसरा - इस प्रकार इसे भली प्रकार जान कर बुद्ध का श्रावक भिक्षु (आदर-) सत्कार की इच्छा न करे और (त्रिविध) विवेक (अर्थात काय विवेक, चित्त विवेक, विक्खम्भन विवेक) को बढ़ावा दे।

बालवग्गो पञ्चमो निट्ठितो।

६. पण्डितवग्गो

७६. निधीनंव पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो॥

जो व्यक्ति अपना दोष दिखाने वाले को (भूमि में छिपी) संपदा दिखाने वाले की तरह समझे, जो संयम की बात करने वाले मेधावी पंडित की संगति करे, उस व्यक्ति का मंगल ही होता है, अमंगल नहीं।

७७. ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।
सतञ्हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो॥

जो उपदेश दे, अनुशासन करे, अनुचित कार्य से रोके, वह सत्पुरुषों का प्रिय होता है और असत्पुरुषों का अप्रिय।

७८. न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तमे॥

न पापी मित्रों की संगत करे, न अधम पुरुषों की। संगति करे कल्याणमित्रों की, उत्तम पुरुषों की।

७९. धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो॥

बुद्ध के उपदेशित धर्म में सदा रमण करता है पंडित। (नवविध लोकोत्तर) धर्म (रस) का पान करने वाला विशुद्धचित्त हो सुखपूर्वक विहार करता है।

८०. उदकञ्हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥

पानी ले जाने वाले (जिधर चाहते हैं, उधर ही से) पानी को ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण को (तपा कर) सीधा करते हैं, बढ़ई लकड़ी को (अपनी रुचि के अनुसार) सीधा या बांका करते हैं, और पंडित (जन) अपना (ही) दमन करते हैं।

८१. सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता॥

जैसे सघन शैल-पर्वत वायु से प्रकंपित नहीं होता, वैसे ही समझदार लोग निंदा और प्रशंसा (वस्तुतः, आठों लोकधर्मों) से विचलित नहीं होते।

८२. यथापि रहदो गम्भीरो, विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता॥

(देशना-) धर्मों को सुनकर पंडित (जन) गहरे, स्वच्छ, निर्मल सरोवर के समान अत्यंत प्रसन्न (संतुष्ट) होते हैं।

८३. सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति,
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।

सुखेन फुट्ठा अथ वा दुखेन,
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति॥

सत्पुरुष सर्वत्र (पांचों स्कंधों में) छंदराग छोड़ देते हैं। संत जन कामभोगों के लिए बात नहीं चलाते। चाहे सुख मिले या दुःख, पंडित (जन) (अपने मन का) उतार-चढ़ाव प्रदर्शित नहीं करते।

८४. न अत्तहेतु न परस्स हेतु,
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।

न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया॥

जो अपने लिए या दूसरे के लिए पुत्र, धन अथवा राज्य की कामना नहीं करता और न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता है, वह शीलवान, प्रज्ञावान और धार्मिक होता है।

८५. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति॥

मनुष्यों में (भवसागर से) पार जाने वाले लोग विरले ही होते हैं। ये दूसरे लोग तो (सत्कायदृष्टिरूपी) तट पर ही दौड़ने वाले होते हैं।

८६. ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं॥

जो लोग सम्यक प्रकार से आख्यात धर्म का अनुवर्तन करते हैं, वे अति दुस्तर मृत्यु-क्षेत्र के पार चले जायेंगे।

८७. कण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोकमागम्म, विवेके यत्थ दूरमं॥

पंडित कृष्ण धर्म को त्याग कर शुक्ल (धर्म) की भावना करे (अर्थात, पापकर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करे।) वह घर से बेघर होकर (सामान्य व्यक्ति के लिए) आकर्षणरहित एकांत का सेवन करे।

८८. तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं, चित्तक्लेसेहि पण्डितो॥

कामनाओं को त्याग कर अकिंचन (बना हुआ व्यक्ति) वहीं (उसी अवस्था में) रमण करने की इच्छा करे। समझदार (व्यक्ति) (पांच नीवरणरूपी) चित्त-मलों से अपने आपको परिशुद्ध करे।

८९. येसं सम्बोधियङ्गेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्सग्गे, अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतिमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥

संबोधि के अंगों में जिनका चित्त सम्यक प्रकार से भावित (अभ्यस्त) हो गया है, जो परिग्रह का परित्याग कर अपरिग्रह में रत हैं, आश्रवों (चित्तमलों) से रहित ऐसे द्युतिमान (पुरुष ही) लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं।

पण्डितवग्गो छट्ठो निट्ठितो।

७. अरहन्तवग्गो

९०. गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिळाहो न विज्जति॥

जिसकी यात्रा पूरी हो गयी है, जो शोकरहित है, सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रंथियां कट गयी हैं, उसके लिए (कायिक और चैतसिक) संताप (नाम की कोई चीज) नहीं है।

९१. उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो, न निकेते रमन्ति ते।
हंसाव पल्ललं हित्वा, ओकमोकं जहन्ति ते॥

स्मृतिमान उद्योग करते रहते हैं, वे घर में रमण नहीं करते। जैसे हंस क्षुद्र जलाशय को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही वे घर-बार (अथवा, सभी ठौर-ठिकानों को) छोड़ देते हैं।

९२. येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येसं गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया॥

जो (कर्मों और प्रत्ययों का) संचय नहीं करते, जिन्हें (अपने) आहार (की मात्रा का) पूरा पूरा ज्ञान है, शून्यतास्वरूप तथा निमित्तरहित निर्वाण जिनकी गोचरभूमि है, उनकी गति वैसे ही अज्ञेय रहती है जैसे आकाश में पक्षियों की (गति)।

९३. यस्सासवा परिक्खीणा, आहारे च अनिस्सितो।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं॥

जिसके आश्रव (चित्त-मल) पूरी तरह से क्षीण हो गये हैं, जो आहार में आसक्त नहीं है, शून्यतास्वरूप तथा निमित्तरहित निर्वाण जिनकी गोचरभूमि है, उनकी गति वैसे ही अज्ञेय रहती है जैसे आकाश में पक्षियों की (गति)।

९४. यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो॥

सारथि द्वारा सुदांत (सुशिक्षित) घोड़ों के समान जिसकी इंद्रियां शांत हो गयी

हैं, जिसका अभिमान विगलित हो गया है, जो आश्रवरहित है, देवगण भी वैसे (व्यक्ति) की स्पृहा करते हैं।

९५. पथविसमो नो विरुज्झति, इन्दखिलुपमो तादि सुब्बतो।
रहदोव अपेतकद्दमो, संसारा न भवन्ति तादिनो॥

सुंदर व्रतधारी अर्हत (=तादि) पृथ्वी के समान क्षुब्ध न होने वाला और इंद्रकील के समान अकंप्य होता है। वैसे (व्यक्ति) को कर्दमरहित जलाशय की भांति संसार (-मल) नहीं होते।

९६. सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥

सम्यक ज्ञान द्वारा मुक्त हुए उपशांत (अरहंत) का मन शांत हो जाता है, और वाणी तथा कर्म भी शांत हो जाते हैं।

९७. अस्सद्धो अकतञ्ञू च, सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो॥

जो नर (अंध-) श्रद्धारहित, निर्वाण का जानकार, (भव-संसरण की) संधि का छेदन किये हुए, (पुनर्जन्म की) संभावनारहित और (सर्वप्रकार की) आशाएं त्यागे हुए हो, वह निःसंदेह उत्तम पुरुष होता है।

९८. गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥

गांव हो या जंगल, भूमि नीची हो या (ऊंची), जहां (कहीं) अरहंत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय होती है।

९९. रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो॥

रमणीय वन जहां (सामान्य) व्यक्ति रमण नहीं करते, (वहां) वीतराग (क्षीणाश्रव) रमण करेंगे (क्योंकि) वे कामभोगों की खोज में नहीं रहते।

अरहन्तवग्गो सत्तमो निट्ठितो।

८. सहस्सवग्गो

१००. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥

निरर्थक पदों से युक्त हजार वचनों की अपेक्षा एक (अकेला) सार्थक पद श्रेयस्कर होता है जिसे सुनकर (कोई व्यक्ति) (रागादि के उपशमन से) शांत हो जाता है।

१०१. सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥

निरर्थक पदों से युक्त हजार गाथाओं की अपेक्षा (वह) एक (अकेला सार्थक) गाथापद श्रेयस्कर होता है जिसे सुनकर (कोई व्यक्ति) शांत हो जाता है।

१०२. यो च गाथा सतं भासे, अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥

जो (कोई) निरर्थक पदों से युक्त सौ गाथाएं बोले उसकी अपेक्षा एक (अकेला सार्थक) धर्मपद श्रेयस्कर होता है जिसे सुन कर (कोई व्यक्ति) शांत हो जाता है।

१०३. यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकञ्च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥

हजारों हजार मनुष्यों को संग्राम में जीतने वाले से भी एक अपने आपको जीतने वाला कहीं उत्तम संग्राम-विजेता होता है।

१०४. अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥

इन अन्य लोगों को (द्यूत, धन-हरण, संग्राम अथवा बलाभिभव द्वारा) जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना ही श्रेयस्कर है। जिस व्यक्ति ने स्वयं को दांत बना लिया है और जो अपने आपको नित्य संयत रखता है -

१०५. नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥

उस प्रकार के व्यक्ति की जीत को न तो देव, न गंधर्व और न (ही) ब्रह्मा सहित मार (ही) पराजय में बदल सकते हैं।

१०६. मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्यो, यञ्चे वस्ससतं हुतं॥

जो (कोई) सौ वर्षों तक महीने-महीने हजार रुपये से यज्ञ करे और (स्रोतापन्न से लेकर क्षीणाश्रव तक) (किसी) भावितात्म (व्यक्ति की) मुहूर्त्त-भर ही पूजा कर ले तो सौ वर्षों के यज्ञ की अपेक्षा वह (मुहूर्त्त-भर की) पूजा ही श्रेयस्कर होती है।

१०७. यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे वने।
एकञ्च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्यो, यञ्चे वस्ससतं हुतं॥

जो कोई व्यक्ति सौ वर्षों तक वन में अग्निहोत्र करे और (किसी) भावितात्म (व्यक्ति की) मुहूर्त भर ही पूजा कर ले, तो सौ वर्षों के हवन से वह (मुहूर्त भर की) पूजा ही श्रेयस्कर होती है।

१०८. यं किञ्चि यिट्ठं व हुतं व लोके, संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति, अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥

पुण्य की इच्छा से जो कोई संसार में वर्ष-भर यज्ञ-हवन करे, तो भी वह (स्रोतापन्न से लेकर क्षीणाश्रव की किसी अवस्था को प्राप्त) सरलचित्त (व्यक्तियों) को किये जाने वाले अभिवादन के चतुर्थांश के बराबर भी नहीं होता।

१०९. अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं॥

जो अभिवादनशील है (और) नित्य बड़े-बूढ़ों की सेवा करता है, उसकी (ये) चार बातें बढ़ती हैं - आयु, वर्ण, सुख और बल।

११०. यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो॥

दु;शील और चित्त की एकाग्रता से रहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से शीलवान और ध्यानी (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

१११. यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पञ्ञवन्तस्स झायिनो॥

दुष्प्रज्ञ और चित्त की एकाग्रता से रहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से प्रज्ञावान और ध्यानी (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

११२. यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, वीरियमारभतो दळ्हं॥

आलसी और उद्योगरहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़ उद्योग करने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

११३. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयब्बयं॥

(पंचस्कंध के) उदय-व्यय को न देखने वाले (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से उदय-व्यय को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

११४. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं॥

अमृत-पद (निर्वाण) को न देखने वाले (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से अमृत-पद को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

११५. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं॥

उत्तम धर्म (नवविध लोकोत्तर धर्म अर्थात चार मार्ग, चार फल और निर्वाण) को न देखने वाले व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से उत्तम धर्म को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

सहस्सवग्गो अट्ठमो निट्ठितो।

९. पापवग्गो

११६. अभित्थरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये।
दन्धञ्हि करोतो पुञ्ञं, पापस्मिं रमती मनो॥

पुण्य (कर्म) करने में जल्दी करे, पाप (कर्म) से चित्त को हटाये, क्योंकि धीमी गति से पुण्य (कर्म) करने वाले का मन पाप (कर्म) में लीन होने लगता है।

११७. पापञ्चे पुरिसो कयिरा, न नं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो॥

यदि पुरुष (कभी) पाप (कर्म) कर डाले, तो उसे बार-बार (तो) न करे। वह उसमें रुचि न ले, क्योंकि पाप (कर्मों) का संचय दुःख (का कारण) होता है।

११८. पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा, कयिरा नं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो॥

यदि पुरुष (कभी) पुण्य (कर्म) करे, तो उसे बार-बार करे। वह उसके प्रति उत्साह जगाये, (क्योंकि) पुण्य (कर्मों) का संचय सुख (का कारण) होता है।

११९. पापोपि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति॥

पापी भी (पाप को) (तब तक) अच्छा ही समझता है जब तक पाप का विपाक नहीं होता। और जब पाप का विपाक होता है, तब पापी पापों को देखने लगता है।

१२०. भद्रोपि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥

भद्र (पुण्य करने वाला व्यक्ति) भी तब तक पाप को देखता है जब तक पुण्य का विपाक नहीं होता। जब पुण्य का परिपाक होता है, तब (वह) भद्र (व्यक्ति) पुण्यों को देखने लगता है।

१२१. मावमञ्ञेथ पापस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकं थोकम्पि आचिनं॥

'वह मेरे पास नहीं आयगा' - ऐसा (सोच कर) पाप की अवहेलना न करे।

बूंद बूंद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। (ऐसे ही) थोड़ा थोड़ा संचय करता हुआ मूढ़ (व्यक्ति भी) पाप से भर जाता है।

१२२. मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकं थोकम्पि आचिनं॥

'वह मेरे पास नहीं आयगा' - ऐसा (सोच कर) पुण्य की अवहेलना न करे। बूंद बूंद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। (ऐसे ही) थोड़ा थोड़ा संचय करता हुआ धीर (व्यक्ति) पुण्य से भर जाता है।

१२३. वाणिजोव भयं मग्गं, अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामोव, पापानि परिवज्जये॥

जैसे छोटे काफिले (परंतु) विपुल धन वाला व्यापारी भययुक्त मार्ग को, अथवा जीवित रहने की इच्छा वाला (व्यक्ति) विष को (छोड़ देता है), (वैसे ही) (मनुष्य) पापों को छोड़ दे।

१२४. पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो॥

यदि हाथ में व्रण (घाव) न हो तो हाथ से विष को ले सकता है (क्योंकि) व्रणरहित (घावरहित) (शरीर में) विष नहीं चढ़ता है। (ऐसे ही) (पापकर्म) न करने वाले को पाप नहीं लगता।

१२५. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातंव खित्तो॥

जो निरपराध, निर्मल, दोषरहित व्यक्ति पर दोषारोपण करता है, उस (दोष लगाने वाले) मूर्ख को ही पाप लगता है; (जैसे कि) पवन की उल्टी दिशा में फेंकी गयी सूक्ष्म रज (फेंकने वाले पर ही आ गिरती है।)

१२६. गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा॥

कोई (मनुष्य लोक में) गर्भ में उत्पन्न होते हैं, पापकर्मी नरक में (जाते हैं), सुगति वाले स्वर्ग में जाते हैं, और अनाश्रव (चित्तमलरहित) निर्वाण-लाभ करते हैं।

१२७. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥

न (अनंत) आकाश में, न समुद्र (की गहराइयों) में, न पर्वतों की (गुहा-) कंदराओं में प्रवेश करके - (इस) जगत में, कहीं भी तो ऐसा स्थान नहीं है जहां ठहरा हुआ (कोई) अपने पापकर्मों (अकुशल संस्कारों के कर्मफलों) को भोगने से बच सके।

१२८. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चु॥

न (अनंत) आकाश में, न समुद्र (की गहराइयों) में, न पर्वतों की (गुहा-) कंदराओं में प्रवेश करके - (इस) जगत में कहीं भी तो ऐसा स्थान नहीं है जहां ठहरे हुए को मृत्यु न पकड़ ले, न दबोच लें।

पापवग्गो नवमो निट्ठितो।

१०. दण्डवग्गो

१२९. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

सभी दंड से डरते हैं। सभी को मृत्यु से भय लगता है। (अतः) (सभी को) अपने जैसा समझ कर न (किसी की) हत्या करे, न हत्या करने के लिए प्रेरित करे।

१३०. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

सभी दंड से डरते हैं। जीवित रहना सबको प्रिय लगता है। (अतः) (सभी को) अपने जैसा समझ कर न (किसी की) हत्या करे, न हत्या करने के लिए प्रेरित करे।

१३१. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥

जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से, दंड से विहिंसित करता है (कष्ट पहुंचाता है), वह मर कर सुख नहीं पाता।

१३२. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं॥

जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से, दंड से विहिंसित नहीं करता (कष्ट नहीं पहुंचाता है), वह मर कर सुख पाता है।

१३३. मावोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥

तुम किसी को कठोर वचन मत बोलो, बोलने पर (दूसरे भी) तुम्हे वैसे ही बोलेंगे। क्रोध या विवाद भरी वाणी दुःख है। उसके बदले में तुम्हे दंड मिलेगा।

१३४. सचे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति॥

यदि (तुम) अपने आपको टूटे हुए कांसे के समान निःशब्द कर लो, तो

(समझो तुमने) निर्वाण पा लिया (क्योंकि) तुममें कोई विवाद नहीं रह गया, कोई प्रतिवाद नहीं रह गया।

१३५. यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाजेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाजेन्ति पाणिनं॥

जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चरागाह में हांक कर ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को हांक कर ले जाते हैं।

१३६. अथ पापानि कम्मानि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढोव तप्पति॥

बाल बुद्धि वाला मूर्ख (व्यक्ति) पापकर्म करते हुए होश नहीं रखता। (परंतु समय पाकर) अपने उन्हीं कर्मों के कारण वह दुर्मेध (दुर्बुद्धि) ऐसे तपता है जैसे आग से जला हो।

१३७. यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति॥

जो दंडरहितों (क्षीणाश्रवों) को दंड से (पीड़ित करता है) या निर्दोषों को दोष लगाता है, उसे इन दस बातों में से कोई एक बात शीघ्र ही होती है -

१३८. वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं, चित्तक्खेपञ्च पापुणे॥

(१) तीव्र वेदना, (२) हानि, (३) अंगभंग, (४) बड़ा रोग, (५) चित्तविक्षेप (उन्माद),

१३९. राजतो वा उपसग्गं, अब्भक्खानञ्च दारुणं।
परिक्खयञ्च ञातीनं, भोगानञ्च पभङ्गुरं॥

(६) राजदंड, (७) कड़ी निंदा, (८) संबंधियों का विनाश, (९) भोगों का क्षय, अथवा

१४०. अथ वास्स अगारानि, अग्गि डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो, निरयं सोपपज्जति॥

इसके घर को आग जला डालती है। शरीर छूटने पर वह दुष्प्रज्ञ नरक में उत्पन्न होता है।

१४१. न नग्गचरिया न जटा न पङ्का, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥

जिस मनुष्य के संदेह समाप्त नहीं हुए हैं उसकी शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा (धारण करने) से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न कादा पोतने से, और न उकड़ूं बैठने से ही होती है।

१४२. अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥

(वस्त्र, आभूषण आदि से) अलंकृत रहते हुए भी यदि कोई शांत, दान्त, स्थिर (नियंत्रित), ब्रह्मचारी है तथा सारे प्राणियों के प्रति दंड त्याग कर समता का आचरण करता है, तो वह ब्राह्मण है, श्रमण है, भिक्षु है।

१४३. हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मि विज्जति।
यो निन्दं अपबोधेति, अस्सो भद्रो कसामिव॥

संसार में कोई (कोई) पुरुष ऐसा भी होता है जो (स्वयं ही) लज्जा के मारे निषिद्ध (कर्म) नहीं करता। वह निंदा को नहीं सह सकता, जैसे सधा हुआ घोड़ा चाबुक को (नहीं सह सकता)।

१४४. अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, जहिस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं॥

चाबुक खाये उत्तम घोड़े के समान उद्योगशील और संवेगशील बनो। श्रद्धा, शील, वीर्य, समाधि और धर्म-विनिश्चय से युक्त हो विद्या और आचरण से संपन्न और स्मृतिमान बन इस महान दुःख(-समूह) का अंत कर सकोगे।

१४५. उदकञ्हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥

पानी ले जाने वाले (जिधर चाहते हैं उधर ही) पानी को ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण को (तपा कर) सीधा करते हैं, बढ़ई लकड़ी को (अपनी रुचि के अनुसार) सीधा या बांका करते हैं, और सदाचार-परायण अपना (ही) दमन करते हैं।

दण्डवग्गो दसमो निट्ठितो।

११. जरावग्गो

१४६. को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥

जहां प्रतिक्षण (सब कुछ) जल ही रहा हो, वहां कैसी हँसी? कैसा आनंद? (कैसा आमोद? कैसा प्रमोद?) ऐ (अविद्यारूपी) अंधकार से घिरे हुए (भोले लोगो!) तुम (ज्ञानरूपी) प्रकाश-प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते?

१४७. पस्स चित्तकतं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसङ्कप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठिति॥

देखो (इस) चित्रित शरीर को जो व्रणों से युक्त, फूला हुआ, रोगी और नाना (प्रकार के) संकल्पों से युक्त है (और) जो सदा बना रहने वाला नहीं है।

१४८. परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीळं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तञ्हि जीवितं॥

यह शरीर जीर्ण-शीर्ण, रोग का घर और नितांत भंगुर है। सड़ायंध से भरी हुई (यह) देह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है; जीवन मरणांतक जो ठहरा!

१४९. यानिमानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति॥

शरद काल की फेंकी गयी (अपथ्य) लौकी के समान (कुम्हलाये हुए मृत शरीर को देख कर) या कबूतरों के से वर्ण वाली (श्मशान में पड़ी) हड्डियों को देख कर किसको (इस देह से) अनुराग होगा?

१५०. अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो॥

यह हड्डियों का नगर बना है जो मांस और रक्त से लेपा गया है; जिसमें जरा, मृत्यु, अभिमान और म्रक्ष (डाह) छिपे हुए हैं।

१५१. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेति।
सतञ्च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति॥

रंग-बिरंगे सुचित्रित राजरथ जीर्ण हो जाते हैं और यह शरीर भी जीर्णता को

प्राप्त हो जाता है। (परंतु) संतों (बुद्धों) का धर्म जीर्ण नहीं होता (तरोताजा बना रहता है)। संतजन (बुद्ध) संतों से ऐसा (ही) कहते हैं।

१५२. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दोव जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥

अज्ञानी पुरुष बैल के समान जीर्ण होता है। उसका मांस बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं।

१५३. अनेकजातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥

(इस काया-रूपी) घर को बनाने वाले की खोज में (मैं) बिना रुके अनेक जन्मों तक (भव-) संसरण करता रहा, किंतु बार बार दुःख(-मय) जन्म ही हाथ लगे।

१५४. गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खतं।
विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा॥

ऐ घर बनाने वाले! (अब) तू देख लिया गया है, (अब) फिर (तू) (नया) घर नहीं बना सकता। तेरी सारी कड़ियां टूट गयी हैं और घर का शिखर भी विशृंखलित हो गया है। चित्त पूरी तरह संस्काररहित हो गया है और तृष्णाओं का क्षय (निर्वाण) प्राप्त हो गया है।

१५५. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोञ्चाव झायन्ति, खीणमच्छेव पल्लले॥

ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना (अथवा) यौवन में धन कमाये बिना (लोग वृद्धावस्था में) मत्स्यहीन जलाशय में बूढ़े (जीर्ण) क्रौंच पक्षी के समान घुट-घुट कर मरते हैं।

१५६. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
सेन्ति चापातिखीणाव, पुराणानि अनुत्थुनं॥

ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना (अथवा) यौवन में धन कमाये बिना (लोग) वृद्धावस्था में धनुष से छोड़े गये (बाण) की भांति पुरानी बातों को याद कर अनुताप करते हुए बिलखते हुए सोते हैं।

जरावग्गो एकादसमो निट्ठितो।

१२. अत्तवग्गो

१५७. अत्तानञ्चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णं अञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो॥

यदि अपने को प्रिय समझते हो तो उसको सुरक्षित रखो। समझदार (व्यक्ति) (जीवन के) तीन प्रहरों (अवस्थाओं - युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था) में से (किसी) एक में (तो) अवश्य सचेत हो।

१५८. अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो॥

पहले अपने आपको ही उचित (कार्य) में लगाये, फिर (किसी) दूसरे को उपदेश करे, (तो) पंडित क्लेश को प्राप्त नहीं होगा।

१५९. अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥

यदि पहले अपने को वैसा बनाये जैसा कि दूसरों को उपदेश देता है, तो अपने आपको सुदान्त करने वाला (भलीभांति वश में करने वाला) ही दूसरे का दमन कर सकता है।

१६०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥

मनुष्य (व्यक्ति) अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कौन स्वामी हो सकता है? अपने आपको भली-भांति वश में करके (प्रज्ञा द्वारा ही) यह दुर्लभ (स्वामित्व) प्राप्त होता है।

१६१. अत्तना हि कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमत्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं॥

अपने से पैदा हुआ, अपने से उत्पन्न, अपने द्वारा किया गया पाप(-कर्म) (इसे करने वाले) दुर्बुद्धि को उसी प्रकार पीड़ित करता है जिस प्रकार कि पाषाणमय मणि को वज्र।

१६२. यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोत्थतं।
करोति सो तथत्तानं, यथा नं इच्छती दिसो॥

शाल वृक्ष पर फैली हुई मालुवा लता के समान जिसका दुराचार खूब (फैला हुआ है), वह अपने आपको वैसा ही बना लेता है जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं।

१६३. सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितञ्च साधुञ्च, तं वे परमदुक्करं॥

बुरे और अपने लिए अहितकारी (काम) करना सहल है, (किंतु) भला और हितकारी (काम) करना बड़ा दुष्कर है।

१६४. यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघाताय फल्लति॥

धर्म का जीवन जीने वाले, आर्य, अरहंतों के शासन (=शिक्षा) की जो दुर्बुद्धि पापपूर्ण दृष्टि के कारण निंदा करता है, वह बांस के फल (फूल) की भांति आत्म-हत्या के लिए (ही) फलता (फूलता) है।

१६५. अत्तना हि कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तनाव विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥

अपने द्वारा किया गया पाप ही अपने को मैला करता है। स्वयं पाप न करे तो आदमी आप ही विशुद्ध बना रहे। शुद्धि-अशुद्धि तो प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी ही है। (अपने-अपने ही अच्छे-बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप है।) कोई दूसरा भला किसी दूसरे को कैसे शुद्ध कर सकता है? (कैसे मुक्त कर सकता है?)

१६६. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया॥

परार्थ के लिए आत्मार्थ को बहुत ज्यादा भी न छोड़े। आत्मार्थ को जानकर सदर्थ में लगा रहे।

अत्तवग्गो द्वादसमो निट्ठितो।

१३. लोकवग्गो

१६७. हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो॥

(पांच कामगुणों वाले) निकृष्ट धर्म का सेवन न करे, न प्रमाद में लिप्त हो। मिथ्यादृष्टि को न अपनाये, और अपने आवागमन को बढ़ाने वाला न बने।

१६८. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥

उठे (उत्साही बने), प्रमाद न करे, सुचरित धर्म का आचरण करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक (दोनों जगह) सुखपूर्वक विहार करता है।

१६९. धम्मं चरे सुचरितं, न नं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥

सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण से बचे। धर्मचारी इस लोक और परलोक (दोनों जगह) सुखपूर्वक विहार करता है।

१७०. यथा पुब्बुळकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति॥

जो (इस) लोक को बुलबुले के समान और मृग-मरीचिका के समान देखे, उस (ऐसे देखने वाले) की ओर मृत्युराज (आंख उठा कर) नहीं देखता।

१७१. एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं॥

आओ, चित्रित राजरथ के समान इस लोक को देखो जहां मूढ़ (जन) आसक्त होते हैं, ज्ञानी जन आसक्त नहीं होते।

१७२. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा॥

जो पहले प्रमाद करके (भी) पीछे प्रमाद नहीं करता, वह मेघमुक्त चंद्रमा की भांति इस लोक को प्रकाशित करता है।

१७३. यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिधीयति।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा॥

जो अपने पहले किये हुए पाप कर्म को (वर्तमान के) कुशल कर्म से ढँक लेता है, वह मेघमुक्त चंद्रमा की भांति इस लोक को खूब भासमान करता है।

१७४. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तोव, अप्पो सग्गाय गच्छति॥

यह लोक (प्रज्ञा चक्षु के अभाव में) अंधे जैसा है, यहां विपश्यना करने वाले थोड़े ही हैं। जाल से मुक्त हुए पक्षी की भांति विरले ही सुगति अथवा निर्वाण को जाते हैं। (बाकी तो जाल में ही फँसे रहते हैं।)

१७५. हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं॥

हंस सूर्य-पथ (आकाश) में जाते हैं, (कोई) ऋद्धि-बल से आकाश में जाते हैं। पंडित लोग सेनासहित मार को जीत कर (इस) लोक से (निर्वाण को) ले जाये जाते हैं (अर्थात, निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।)

१७६. एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं॥

एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण कर जो झूठ बोलता है, परलोक के प्रति उदासीन ऐसे प्राणी के लिए कोई इस प्रकार का पाप नहीं रह जाता जो वह न कर सके।

१७७. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति, बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो, तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥

कृपण (लोग) देवलोक में नहीं जाते हैं, मूढ़ (लोग) ही दान की प्रशंसा नहीं करते हैं। पंडित (व्यक्ति) दान का अनुमोदन करता हुआ उसी (कर्म के आधार) से परलोक में सुखी होता है।

१७८. पथब्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं॥

पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य, अथवा स्वर्गारोहण, (अथवा) सारे लोकों के आधिपत्य से अधिक उत्तम है स्रोतापत्ति का फल।

लोकवग्गो तेरसमो निट्ठितो।

१४. बुद्धवग्गो

१७९. यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥

जिसकी विजय को अविजय में नहीं पलटा जा सकता, जिसके द्वारा विजित (राग, द्वेष, मोहादि) वापस संसार में नहीं आते (पुनः नहीं बांधते), उस अपद अनंतगोचर बुद्ध को किस उपाय से मोहित (प्रलुब्ध) कर सकोगे?

१८०. यस्स जालिनी विसत्तिका, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥

जिसकी जाल फैलाने वाली विषाक्त तृष्णा कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं रही, उस अनंतगोचर बुद्ध को किस उपाय से मोहित (प्रलुब्ध) कर सकोगे?

१८१. ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं॥

जो पंडित (जन) ध्यान (करने) में लगे रहते हैं, और त्याग और उपशमन में लगे रहते हैं, उन स्मृतिमान संबुद्धों की देवता भी स्पृहा करते हैं।

१८२. किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो॥

मनुष्य (योनि) प्राप्त होना कठिन है, मनुष्यों का जीवित रहना कठिन है, सद्धर्म का श्रवण (कर पाना) कठिन है और बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है।

१८३. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥

सभी पापकर्मों (अकुशल कर्मों) को न करना, पुण्यकर्मों की संपदा संचित करना, (पांच नीवरणों से) अपने चित्त को परिशुद्ध करना (धोते रहना) - यही बुद्धों की शिक्षा है।

१८४. खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती, न समणो होति परं विहेठयन्तो॥

सहनशीलता और क्षमाशीलता परम तप है। बुद्ध (जन) निर्वाण को उत्तम

बतलाते हैं। दूसरे का घात करने वाला प्रव्रजित नहीं होता और दूसरे को सताने वाला श्रमण नहीं हो सकता।

१८५. अनूपवादो अनूपघातो, पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं, पन्तञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो, एतं बुद्धान सासनं॥

निंदा न करना, घात न करना, प्रातिमोक्ष (भिक्षु-नियमों) द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, (अपने) आहार की मात्रा का जानकार होना, एकांत में सोना-बैठना और चित्त को एकाग्र करने के प्रयत्न में जुटना - यह (सभी) बुद्धों की शिक्षा है।

१८६. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विञ्ञाय पण्डितो॥

स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा से (भी) कामभोगों की तृप्ति नहीं हो सकती। यह जान कर कि कामभोग अल्प आस्वाद वाले और दुःखद होते हैं, (कोई) पंडित -

१८७. अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको॥

दैवी कामभोगों में भी आनंद प्राप्त नहीं करता। सम्यक संबुद्ध का श्रावक तृष्णा का क्षय करने में लगा रहता है।

१८८. बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता॥

मनुष्य भय के मारे पर्वतों, वनों, उद्यानों, वृक्षों, चैत्यों - आदि बहुतों की शरण में जाते हैं,

१८९. नेतं खो सरणं खेमं, नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

(परंतु) यह शरण मंगलकारी नहीं है, यह शरण उत्तम नहीं है। इस शरण को पाकर सभी दुःखों से छुटकारा नहीं होता।

१९०. यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च, सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति॥

१९१. दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं॥

१९२. एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया है, जो चार आर्य सत्यों - दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख से मुक्ति और मुक्तिगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग - को सम्यक प्रज्ञा से देखता है, यही मंगलदायक शरण है, यही उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर (व्यक्ति) सभी दुःखों से मुक्त होता है।

१९३. दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति॥

श्रेष्ठ पुरुष का जन्म दुर्लभ होता है, वह सब जगह पैदा नहीं होता। वह (उत्तम प्रज्ञा वाला) धीर (पुरुष) जहां उत्पन्न होता है उस कुल में सुख की वृद्धि होती है।

१९४. सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा सङ्घस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो॥

सुखदायी है बुद्धों का उत्पन्न होना, सुखदायी है सद्धर्म का उपदेश। सुखदायी है संघ की एकता, सुखदायी है एक साथ तपना।

१९५. पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोकपरिद्दवे॥

पूजा के योग्य बुद्धों अथवा उनके श्रावकों - जो (भव-) प्रपंच का अतिक्रमण कर चुके हैं और शोक तथा भय को पार कर गये हैं -

१९६. ते तादिसे पूजयतो, निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं सङ्खातुं, इमेत्तमपि केनचि॥

निर्वाणप्राप्त, निर्भय हुए - ऐसे लोगों की पूजा के पुण्य का परिमाण इतना होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

बुद्धवग्गो चुद्दसमो निट्ठितो।

१५. सुखवग्गो

१९७. सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो॥

वैरियों के बीच अवैरी होकर, अहो! हम बड़े सुख से जी रहे हैं। वैरी मनुष्यों के बीच हम अवैरी होकर विचरण करते हैं।

१९८. सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा॥

(तृष्णा से) आतुर (-व्याकुल) लोगों के बीच, अहो! हम अनातुर (-अनाकुल) रह कर बड़े सुख से जी रहे हैं। आतुर (रोगी) मनुष्यों में हम अनातुर (नीरोग) रह कर विचरण करते हैं।

१९९. सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनस्सेसु, विहराम अनुस्सुका॥

(कामभोगों के प्रति) आसक्त (लोभी) लोगों के बीच हम अनासक्त (अलोभी) होकर, अहो! हम बड़े सुख से जी रहे हैं। लोभी के बीच हम निर्लोभी होकर विचरण करते हैं।

२००. सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा॥

जिनके पास कुछ नहीं है, अहो! (वैसे हम) कैसे बड़े सुख से जी रहे हैं। आभास्वर देवताओं के समान हम प्रीति का (ही) भोजन करने वाले होंगे।

२०१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥

विजय वैर को जन्म देती है, पराजित (व्यक्ति) दुःख (की नींद) सोता है। जिसके (रागद्वेषादि) शांत हो गये हैं वह (क्षीणाश्रव) जय और पराजय को छोड़ कर सुख (की नींद) सोता है।

२०२. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं॥

राग के समान (कोई) आग नहीं, द्वेष के समान (कोई) दुर्भाग्य नहीं, पंचस्कंध

(रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) के समान (कोई) दुःख नहीं, शांति (निर्वाण) से बढ़ कर (कोई) सुख नहीं।

२०३. जिघच्छापरमा रोगा, सङ्खारपरमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं॥

भूख (तृष्णा) सबसे बड़ा रोग है। भूख संस्कार सबसे बड़ा दुःख। (तृष्णा और उससे बनते संस्कारों को अपने भीतर विपश्यना साधना द्वारा) यथाभूत जानकर जो निर्वाण (प्राप्त होता) है, वह सबसे बड़ा सुख है।

२०४. आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुट्ठिपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति, निब्बानं परमं सुखं॥

आरोग्य परम लाभ है, संतुष्टि परम धन है, विश्वास परम बंधु है, निर्वाण परम सुख है।

२०५. पविवेकरसं पित्वा, रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं॥

पूर्ण एकांत का रस-पान कर और (ऐसे ही) शांति (निर्वाण) का रस-पान कर व्यक्ति निडर होता है और धर्म-प्रीति का रस-पान कर वह निष्पाप हो जाता है।

२०६. साहु दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया॥

आर्यों (श्रेष्ठ पुरुषों) का दर्शन अच्छा होता है, संतों के साथ निवास सदा सुखकर होता है। मूढ़ (पुरुषों) के अदर्शन से सदा सुखी बने रहो।

२०७. बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो, ञातीनंव समागमो॥

मूढ़ (पुरुषों) के साथ संगत करने वाला दीर्घ काल तक शोकग्रस्त रहता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु के समान सदा दुःखदायी होता है, बंधुओं के समागम की भांति ज्ञानियों का सहवास सुखदायी होता है।

२०८. तस्मा हि धीरञ्च पञ्ञञ्च बहुस्सुतञ्च, धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथंव चन्दिमा॥

इसलिए धीर, प्रज्ञावान, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती, आर्य - ऐसे सुमेध सत्पुरुष का (एवंविध) साहचर्य करे जैसे चंद्रमा नक्षत्र-पथ का करता है।

सुखवग्गो पन्नरसमो निट्ठितो।

१६. पियवग्गो

२०९. अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिञ्च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं॥

अनुचित कर्म (अयोनिसोमनसिकार) में लगा हुआ, उचित कर्म (योनिसोमनसिकार) में न लगने वाला और सदर्थ को छोड़ कर (पांच कामगुणरूपी) प्रिय को पकड़ने वाला (उस पुरुष की) स्पृहा करे जो आत्मोन्नति में लगा हो।

२१०. मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं, अप्पियानञ्च दस्सनं॥

प्रियों (सत्त्वों अथवा संस्कारों) का संग न करे और न कभी अप्रियों का ही। प्रियों का अदर्शन (न दिखना) दुःखदायी होता है और अप्रियों का दर्शन (अर्थात, दिख जाना) भी दुःखदायी होता है।

२११. तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥

इसलिए (किसी को) प्रिय न बनाये, क्योंकि प्रिय का वियोग बुरा लगता है। जिनके (कोई) प्रिय-अप्रिय नहीं होते, उनके कोई बंधन नहीं होते।

२१२. पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥

प्रिय (वस्तु) से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है। प्रिय (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१३. पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥

प्रेम (करने) से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१४. रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥

(पंचकामगुणात्मक) राग (करने) से शोक उत्पन्न होता है, राग से भय उत्पन्न

होता है। राग (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१५. कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥

काम (कामना) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय उत्पन्न होता है। काम से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता। फिर भय कहां से (होगा)?

२१६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥

(छः द्वारों पर होनेवाली) तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१७. सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मट्ठं सच्चवेदिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं॥

जो शीलसंपन्न, सम्यक दृष्टिसंपन्न, धर्मनिष्ठ (नव प्रकार के लोकोत्तर धर्मों में स्थित), सत्यवादी, कर्तव्यपरायण है, उसे लोग प्यार करते हैं।

२१८. छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतोति वुच्चति॥

जो अनाख्यात (अवर्णनीय, निर्वाण) का अभिलाषी हो, उसी में जिसका मन लगा हो, और (अनागामी मार्ग में होने से) कामभोगों में जिसका चित्त न रुंधा हो, वह ऊर्ध्वस्रोत कहा जाता है।

२१९. चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं॥

(जैसे) चिरकाल तक परदेस में रहने के बाद दूर (देश) से सकुशल घर आये पुरुष का संबंधी, मित्र और हितैषीजन स्वागत करते हैं;

२२०. तथेव कतपुञ्ञम्पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञातीव आगतं॥

वैसे ही पुण्यकर्मा (पुरुष) के इस लोक से पर (-लोक) में जाने पर (उसके)

पुण्य उसका वैसे ही स्वागत करते हैं जैसे (अपने) प्रिय के लौटने पर उसके संबंधी (उसका स्वागत करते हैं)।

पियवग्गो सोळसमो निट्ठितो।

१७. कोधवग्गो

२२१. कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिमसज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा॥

क्रोध को छोड़ दे, अभिमान का त्याग करे, सारे संयोजनों (बंधनों) को पार कर जाय। ऐसे नामरूप में आसक्त न होने वाले अपरिग्रही को दुःख संतप्त नहीं करते।

२२२. यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तंव वारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

जो भड़के हुए क्रोध को (बड़े वेग से) घूमते हुए रथ के समान रोक ले, उसे मैं सारथि कहता हूं, दूसरे लोग तो (मात्र) लगाम पकड़ने वाले होते हैं।

२२३. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥

अक्रोध से क्रोध को जीते, अभद्र को भद्र बन कर जीते, कृपण को दान से जीते और झूठ बोलने वाले को सत्य से (जीते)।

२२४. सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा अप्पम्पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके॥

सच बोले, क्रोध न करे, मांगने पर थोड़ा रहते भी दे। इन तीन कारणों से (कोई व्यक्ति) देवताओं के निकट (अर्थात, देवलोक में) चला जाता है।

२२५. अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे॥

जो मुनि (जन) अहिंसक हैं और जो सदा काया में संयत रहते हैं, वे उस अच्युत (शाश्वत) स्थान (निर्वाण) को पा लेते हैं जहां पहुँच कर शोक नहीं करते।

२२६. सदा जागरमानानं, अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बानं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥

जो सदा जागरूक रहते हैं, रात-दिन सीखने में लगे रहते हैं और जिनका ध्येय निर्वाण प्राप्त करना है, उनके आश्रव नष्ट हो जाते हैं।

२२७. पोराणमेतं अतुल, नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिम्पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो॥

हे अतुल! यह पुरानी बात है, आज की नहीं - (लोग) चुप बैठे हुए की निंदा करते हैं, बहुत बोलने वाले की निंदा करते हैं, मितभाषी की भी निंदा करते हैं। संसार में अनिंदित कोई नहीं है।

२२८. न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो॥

ऐसा पुरुष जिसकी निंदा ही निंदा होती हो, या प्रशंसा ही प्रशंसा, न (कभी) था, न होगा, न इस समय है।

२२९. यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं॥

विज्ञ (लोग) सोच विचार कर जिस प्रज्ञा वा शील से युक्त, निर्दोष, मेधावी की दिन-प्रतिदिन प्रशंसा करते हैं -

२३०. निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति।
देवापि नं पसंसन्ति, ब्रह्मुनापि पसंसितो॥

जम्बोनद सोने की अशर्फी के समान उसकी कौन निंदा कर सकता है? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, वह ब्रह्मा द्वारा भी प्रशंसित होता है।

२३१. कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे॥

कायिक चंचलता से बचा रहे, काय से संयत रहे। कायिक दुराचार को त्याग कर शरीर से सदाचरण करे।

२३२. वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे॥

वाचिक चंचलता से बचा रहे, वाणी से संयत रहे। वाचिक दुराचार को त्याग कर वाणी का सदाचरण करे।

२३३. मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे॥

मानसिक चंचलता से बचे, मन से संयत रहे (उसे संयमित रखे)। मानसिक दुराचार को त्याग कर मानसिक सदाचरण करे।

२३४. कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥

जो धीर पुरुष काय से संयत हैं, वाणी से संयत हैं, मन से संयत हैं, वे ही पूर्णतया संयत हैं।

कोधवग्गो सत्तरसमो निट्ठितो।

१८. मलवग्गो

२३५. पण्डुपलासोव दानिसि, यमपुरिसापि च ते उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति॥

(अरे उपासक!) पीले पत्ते के समान इस समय तू है, यमदूत तेरे पास खड़े हैं (अर्थात, अब तू मरणासन्न है), तू प्रयाण के लिए तैयार है और (कुशल कर्मों का) पाथेय (रास्ते की खुराक) तेरे पास कुछ नहीं है।

२३६. सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहिसि॥

सो तू अपने लिए द्वीप (रक्षास्थल) बना, शीघ्र ही (साधना का) अभ्यास कर पंडित हो जा। (तू) मल का प्रक्षालन कर, निर्मल बन, दिव्य आर्यभूमि (पांच प्रकार की शुद्धावास भूमि) को पा लेगा।

२३७. उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति॥

अब तेरी आयु समाप्त हो चुकी है, तू यम के निकट पहुँच गया है, बीच में तेरा कोई ठिकाना भी नहीं है और न ही तेरे पास (कोई) पाथेय (रास्ते की खुराक) है।

२३८. सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि॥

सो तू अपने लिए द्वीप बना, शीघ्र ही (साधना का) अभ्यास कर पंडित हो जा। (तू) मल का प्रक्षालन कर, निर्मल बन, पुनः जन्म, जरा (रोग तथा मृत्यु) के बंधन में नहीं पड़ेगा।

२३९. अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥

समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मैल को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा क्षण-प्रतिक्षण वैसे ही दूर करे जैसे कि रजतकार (सुनार) चांदी के मैल को दूर करता है।

२४०. अयसाव मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं॥

जैसे लोहे के ऊपर उठा हुआ मल (जंग) उसी पर उठ कर उसी को खाता है, वैसे ही मर्यादा का उल्लंघन करने वाले (व्यक्ति) के अपने (ही) कर्म (उसे) दुर्गति की ओर ले जाते हैं।

२४१. असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं॥

स्वाध्याय न करना परियत्ति का मल है, मरम्मत न करना (झाड़ू-बुहारू न करना) घरों का मल है, आलस्य सौंदर्य का मल है और प्रमाद प्रहरी का मल है।

२४२. मलित्थिया दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च॥

दुश्चरित्र होना स्त्री का मल है, कृपणता दाता का मल है और (सभी) पापपूर्ण (अकुशल) धर्म इहलोक और परलोक के मल हैं।

२४३. ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहन्त्वान, निम्मला होथ भिक्खवो॥

उससे भी बढ़ कर अविद्या (आठ प्रकार का अज्ञान) परम मल है। हे साधको! इस मल को दूर करके निर्मल बन जाओ।

२४४. सुजीवं अहिरिकेन, काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन, संकिलिट्ठेन जीवितं॥

(पापाचार के प्रति) निर्लज्ज, कौवे के समान (छीनने में) शूर, (परहित-) विनाशी, आत्मश्लाघी (शेखीखोर) (बड़बोल), दुःसाहसी, मलिन (पुरुष) का जीवन सुखपूर्वक बीतता हुआ (देखा जाता है)।

२४५. हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता॥

(पापाचार के प्रति) लजालु, नित्य पवित्रता का ध्यान रखने वाले, अप्रमादी, अनुच्छृंखल, शुद्ध जीविका वाले (पुरुष) के जीवन को कठिनाई से बीतते (देखा जाता है)।

२४६. यो पाणमतिपातेति, मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नमादियति, परदारञ्च गच्छति॥

२४७. सुरामेरयपानञ्च, यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो॥

जो संसार में हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, परस्त्रीगमन करता है, मद्यपान (सुरा एवं मेरय का पान) करता है, वह व्यक्ति यहीं - इसी लोक में - अपनी जड़ खोदता है।

२४८. एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं॥

हे पुरुष! ऐसा जान कि अकुशल धर्म पर संयम करना आसान नही है। तुझे लोभ (राग) तथा अधर्म (पाप, अकुशल धर्म) चिरकाल तक दुःख में न रांधते (पकाते) रहें।

२४९. ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मङ्कु भवति, परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥

लोग अपनी श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुरूप दान देते हैं। दूसरों के खाने-पीने से जो खिन्न होता है वह दिन हो या रात (कभी भी) (उपचार अथवा अर्पणा) समाधि को प्राप्त नहीं करता है।

२५०. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥

(किंतु) जिसकी ऐसी मनोवृत्ति उच्छिन्न हो गयी है (समूल नष्ट हो गयी है) वही, दिन हो या रात (सदैव), एकाग्रता को प्राप्त होता है।

२५१. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी॥

राग के समान अग्नि नहीं है, न द्वेष के समान जकड़न। मोह के समान फंदा नहीं है, न तृष्णा के समान नदी।

२५२. सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसं।
अत्तनो पन छादेति, कलिंव कितवा सठो॥

दूसरों का दोष देखना आसान है, किंतु अपना (दोष) देखना कठिन। वह

(व्यक्ति) दूसरों के दोषों को भूसे की तरह उड़ाता फिरता है, किंतु अपने दोषों को वैसे ही ढँकता है जैसे बेईमान जुआरी पासे को।

२५३. परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया॥

दूसरों के दोषों को देखने में लगे हुए, सदा शिकायत करने की चेतना वाले (व्यक्ति) के आश्रव (चित्त-मल) बढ़ते हैं। वह आश्रवों के क्षय से दूर होता है।

२५४. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता॥

आकाश में कोई पद (चिह्न) नहीं होता, (बुद्ध-शासन से) बाहर (कोई) श्रमण नहीं होता। लोग भांति-भांति के प्रपंचों में पड़े रहते हैं, (किंतु) तथागत निष्प्रपंच होते हैं।

२५५. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं॥

आकाश में (कोई) पद (चिह्न) नहीं होता, (बुद्ध-शासन से) बाहर (मुक्ति के मार्ग पर चलता हुआ या मुक्ति का फल-प्राप्त) (कोई) श्रमण नहीं होता, संस्कार (पांच स्कंध) शाश्वत नहीं होते, बुद्धों में (किसी प्रकार की) चंचलता नहीं होती।

मलवग्गो अट्ठारसमो निट्ठितो।

१९. धम्मट्ठवग्गो

२५६. न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं साहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थञ्च, उभो निच्छेय्य पण्डितो॥

जो (व्यक्ति) सहसा किसी बात का निश्चय कर ले, वह धर्मिष्ठ नहीं कहा जाता। जो अर्थ और अनर्थ दोनों का चिंतन कर निश्चय करे वह पंडित (कहलाता है)।

२५७. असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, "धम्मट्ठो"ति पवुच्चति॥

जो (व्यक्ति) धीरज के साथ, धर्मपूर्वक, निष्पक्ष होकर दूसरों का मार्गदर्शन करता है, वह धर्मरक्षक मेधावी 'धर्मिष्ठ' कहा जाता है।

२५८. न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो, "पण्डितो"ति पवुच्चति॥

(संघ के बीच) बहुत बोलने से (कोई) पंडित नहीं हो जाता। (कुशल-) क्षेम से रहने वाला, वैर-रहित तथा निर्भय (व्यक्ति) ही 'पंडित' कहा जाता है।

२५९. न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्पि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति॥

बहुत बोलने से (कोई) धर्मधर नहीं हो जाता। जो (कोई) थोड़ी सी भी (धर्म की बात) सुन कर काय से धर्म का दर्शन करने लगता है (अर्थात, विपश्यना करने लगता है) और जो धर्म (के आचरण) में प्रमाद नहीं करता, वही निःसंदेह 'धर्मधर' होता है।

२६०. न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, "मोघजिण्णो"ति वुच्चति॥

सिर के (बाल) पकने से (कोई) स्थविर नहीं हो जाता, (केवल) उसकी आयु पकी है, वह तो 'मोघजीर्ण' (व्यर्थ का वृद्ध हुआ) कहा जाता है।

२६१. यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, "थेरो" इति पवुच्चति॥

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगतमल, धृतिसंपन्न स्थविर कहा जाता है।

२६२. न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥

जो ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ है, वह वक्तामात्र होने से अथवा सुंदर-रूप होने से 'साधुरूप' मनुष्य नहीं हो जाता।

२६३. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी, "साधुरूपो"ति वुच्चति॥

जिसके (भीतर से) ये (ईर्ष्या, मात्सर्य आदि) जड़मूल से सर्वथा उच्छिन्न हो गये हैं, वह विगतदोष मेधावी (पुरुष) 'साधुरूप' कहा जाता है।

२६४. न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥

जो (शीलव्रत और धुतांगव्रत पालन न करने से) अव्रती है (और) जो झूठ बोलने वाला है, वह सिर मुँड़ा लेने (मात्र) से श्रमण नहीं हो जाता। इच्छा और लोभ से ग्रस्त भला क्या श्रमण होगा?

२६५. यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, "समणो"ति पवुच्चति॥

जो छोटे-बड़े पापों का सर्वशः शमन कर लेता है, पापों के शमित होने के कारण वह 'श्रमण' कहा जाता है।

२६६. न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥

दूसरों से भिक्षा मांगने (मात्र) से (कोई) भिक्षु नहीं हो जाता, और न ही भिक्षु होता है विषम धर्म को ग्रहण करने से।

२६७. योध पुञ्ञञ्च पापञ्च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति, स वे "भिक्खू"ति वुच्चति॥

जो यहां (इस शासन में) पुण्य और पाप को दूर रखकर, ब्रह्मचारी बन, विचार करके लोक में विचरण करता है, वही वस्तुतः 'भिक्षु' कहा जाता है।

२६८. न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलंव पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो॥

अविद्वान और मूढ़-समान (पुरुष) (केवल) मौन रहने से मुनि नहीं हो जाता। जो पंडित तराजू के समान तोल कर (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञानदर्शन-रूपी) उत्तम (तत्त्व) को ग्रहण कर -

२६९. पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके, "मुनि" तेन पवुच्चति॥

पाप(-कर्मों) का परित्याग कर देता है, वह मुनि होता है - इस बात से वह मुनि होता है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इस कारण वह 'मुनि' कहा जाता है।

२७०. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, "अरियो"ति पवुच्चति॥

प्राणियों की हिंसा करने से (कोई) आर्य नहीं हो जाता। सभी प्राणियों की हिंसा न करने से वह 'आर्य' कहा जाता है।

२७१. न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।
अथ वा समाधिलाभेन, विवित्तसयनेन वा॥

केवल शील (पालने) और व्रत (करने) से, या बहुश्रुत होने से, या समाधि के लाभ से, या एकांत में शयन करने (एकांतवासी होने) से -

२७२. फुसामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं॥

'पृथग्जन (अज्ञ) जिसे सेवन नहीं कर सकते (मैंने) उस नैष्क्रम्य-सुख को प्राप्त कर लिया है' ऐसा सोच हे भिक्षुओ! आश्रवों का क्षय न हो जाने तक (तुम) आश्वस्त होकर (अर्थात, चैन से) मत (बैठे) रहो।

धम्मट्ठवग्गो एकूनवीसतिमो निट्ठितो।

२०. मग्गवग्गो

२७३. मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानञ्च चक्खुमा॥

मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है, सच्चाइयों में चार आर्य-सत्य, धर्मों में वीतरागता श्रेष्ठ है, (देवमनुष्यादि) द्विपदों में चक्षुमान बुद्ध।

२७४. एसेव मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतञ्हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं॥

दर्शन की विशुद्धि (ज्ञान की प्राप्ति) के लिए यही मार्ग है, (कोई) दूसरा नहीं। तुम इसी पर आरूढ़ होओ, यह मार को हक्का-बक्का करने वाला, किंकर्तव्यविमूढ़ बनाने वाला है।

२७५. एतञ्हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वो मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लकन्तनं॥

इस (मार्ग) पर आरूढ़ होकर तुम दुःख का अंत कर लोगे। मेरे द्वारा शल्य काटने वाले इस मार्ग को स्वयं जान कर तुम्हारे लिए आख्यान किया गया है।

२७६. तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना॥

तपना तो तुम्हें ही पड़ेगा, तथागत तो (मार्ग) आख्यात करते हैं। इस (मार्ग) पर आरूढ़ होकर ध्यान करने वाले मार के बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

२७७. "सब्बे सङ्खारा अनिच्चा"ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥

"सारे संस्कार अनित्य हैं" (याने, जो कुछ उत्पन्न होता है वह नष्ट होता ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२७८. "सब्बे सङ्खारा दुक्खा"ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥

"सारे संस्कार दुःख हैं" (याने, जो कुछ उत्पन्न होता है, वह नाशवान होने के

कारण दुःख ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको सभी दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२७९. "सब्बे धम्मा अनत्ता"ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥

"सभी धर्म अनात्म हैं" (याने, लोकीय अथवा लोकोत्तर जो कुछ भी है, वह सब अनात्म है, 'मैं' 'मेरा' नहीं है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको सभी दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२८०. उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो, युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो, पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति॥

जो उद्योग करने के समय उद्योग नहीं करता, युवा और बलशाली होने पर भी आलस्य करता है, मन के संकल्पों को गिरा देता है, निर्वीर्य होता है - ऐसा आलसी (व्यक्ति) प्रज्ञा का मार्ग नहीं पा सकता।

२८१. वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो, कायेन च नाकुसलं कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये, आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं॥

वाणी को संयत रखे, मन को संयत रखे और शरीर से कोई अकुशल (काम) न करे। इन तीनों कर्मपथों (कर्मेंद्रियों) का विशोधन करे। ऋषि (बुद्ध) के बताये (अष्टांगिक) मार्ग का अनुसरण करे।

२८२. योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।
तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति॥

योग (के अभ्यास) से प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसके अभाव से उसका क्षय होता है। उत्पत्ति और विनाश के (योग तथा अयोग - इन) दो प्रकार के मार्गों को जान कर अपने आपको इस प्रकार विनियोजित करे जिससे प्रज्ञा की भरपूर वृद्धि हो।

२८३. वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च, निब्बना होथ भिक्खवो॥

वन (आसक्ति) को काटो, वृक्ष (शरीर) को नहीं। भय वन से पैदा होता है। हे साधको! वन को, और झाड़ (तृष्णा) को काट कर अनासक्त हो जाओ।

२८४. याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनोव ताव सो, वच्छो खीरपकोव मातरि॥

जब तक अणुमात्र (जरा-सी) भी नर की नारियों के प्रति कामना बनी रहती है, तब तक जैसे दूध पीने वाला बछड़ा माता में आबद्ध रहता है वैसे ही वह नर भी (उनमें) आसक्त रहता है।

२८५. उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकंव पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं॥

जिस प्रकार हाथ से शरद (ऋतु) के कुमुद को तोड़ा जाता है, उसी प्रकार अपने (हृदय से) स्नेह को उच्छिन्न कर डालो। सुगत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शांतिमार्ग निर्वाण को ही भावित करो।

२८६. इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति॥

(मैं) यहां वर्षाकाल में रहूंगा, यहां हेमंत और ग्रीष्म में - मूढ़ (व्यक्ति) इस प्रकार सोचता है और (किसी संभावित) बाधा को नहीं बूझता (कि मैं किसी भी समय, देश अथवा उम्र में इस जीवन से कूच कर सकता हूं)।

२८७. तं पुत्तपसुसम्मत्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघोव, मच्चु आदाय गच्छति॥

जैसे सोये हुए गांव को (कोई) बड़ी बाढ़ बहा कर ले जाय, वैसे ही पुत्र और पशु के नशे में धुत्त आसक्तचित्त (व्यक्ति) को मृत्यु (पकड़ कर) ले जाती है।

२८८. न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातीसु ताणता॥

पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, न पिता और न ही बंधुजन। जब मृत्यु पकड़ लेती है तब जाति वाले रक्षा नहीं कर सकते।

२८९. एतमत्थवसं ञत्वा, पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये॥

इस तथ्य को जान कर शील में संयत पंडित (समझदार व्यक्ति) निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग का शीघ्र ही विशोधन करे।

मग्गवग्गो वीसतिमो निट्ठितो।

२१. पकिण्णकवग्गो

२९०. मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं॥

यदि (कोई) धीर (व्यक्ति) थोड़े से सुख के परित्याग से विपुल (निर्वाण) सुख (का लाभ) देखे, तो (वह) विपुल सुख का ख्याल करके थोड़े से सुख को छोड़ दे।

२९१. परदुक्खूपधानेन, अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति॥

दूसरे को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वैर के संसर्ग में पड़ कर वह वैर से मुक्त नहीं हो पाता।

२९२. यञ्हि किच्चं अपविद्धं, अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नळानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा॥

जो करणीय से हाथ खींच ले किंतु अकरणीय को करे, ऐसे खोखले (घमंडी) प्रमादियों के आश्रव (चित्तमल) बढ़ते हैं।

२९३. येसञ्च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥

जिनकी कायानुस्मृति नित्य उपस्थित रहती है (याने, जो सतत कायानुपश्यना करते रहते हैं, काय के प्रति एवं काय में होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हैं), वे (साधक) कभी कोई अकरणीय काम नहीं करते, सदा करणीय ही करते हैं। (ऐसे) स्मृतिमान और प्रज्ञावान (साधकों) के आश्रव क्षय को प्राप्त होते हैं (उनके चित्त के मैल नष्ट होते हैं)।

२९४. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥

माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), अनुचर (राग) सहित राष्ट्र (बारह आयतनों) का हनन कर ब्राह्मण (क्षीणाश्रव) दुःखरहित हो जाता है।

२९५. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेयग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥

माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो श्रोत्रिय (ब्राह्मण) राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि) और पांच व्याघ्रों में (पांच नीवरणों में) पांचवें (संदेह) का हनन कर ब्राह्मण (क्षीणाश्रव) दुःखरहित हो जाता है।

२९६. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति॥

जिनकी दिन-रात, हर समय बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध (जाग्रत) बने रहते हैं।

२९७. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं धम्मगता सति॥

जिनकी दिन-रात, हर समय धर्म-विषयक स्मृति बनी रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

२९८. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सङ्घगता सति॥

जिनकी दिन-रात, हर समय संघ-विषयक स्मृति बनी रहती है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

२९९. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति॥

जिनमें दिन-रात कायगता स्मृति (याने, काय के प्रति जागरूकता) की निरंतरता बनी रहती है, गौतम (भगवान बुद्ध) के वे श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३००. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रमा रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३०१. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रतो मनो॥

जिनका मन दिन-रात (मैत्री) भावना में रत रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३०२. दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न चद्धगू सिया, न च दुक्खानुपतितो सिया॥

कष्टपूर्ण प्रव्रज्या में रत रहना दुष्कर होता है, न रहने योग्य घर दुःखद होते हैं, असमान (व्यक्ति) से सहवास दुःखदायी होता है, मार्ग (आवागमन) का पथिक होना दुःखपूर्ण होता है। इसलिए न तो (संसाररूपी) मार्ग का पथिक बने और न दुःख में पड़ने वाला बने।

३०३. सद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो॥

श्रद्धावान, शीलवान, और यश और भोग से युक्त (कुलपुत्र) जिस-जिस प्रदेश में जाता है वहीं-वहीं (लाभ-सत्कार से) पूजित होता है।

३०४. दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तोव पब्बतो।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा॥

संत (लोग) हिमालय पर्वत के समान दूर से ही प्रकाशमान होते हैं, (किंतु) असंत (दुर्जन) यहीं (पास में होने पर भी) रात में फेंके गये बाण की भांति दिखलायी नहीं देते।

३०५. एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया॥

एक आसन रखने वाला, एक शय्या रखने वाला, तन्द्रा रहित हो एकाकी विचरण करने वाला, अपने को दमन कर अकेला ही (स्त्री, पुरुष, शब्दादि से विरहित) वनांत में रमण करे।

पकिण्णकवग्गो एकवीसतिमो निट्ठितो।

२२. निरयवग्गो

३०६. अभूतवादी निरयं उपेति, यो वापि कत्वा न करोमि चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥

असत्य बोलने वाला नरक में जाता है, और वह भी जो कि (पापकर्म) करके 'नहीं किया' - ऐसा कहता है। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करने वाले मनुष्य मर कर परलोक में एक-समान हो जाते हैं।

३०७. कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे॥

कंठ में काषाय (वस्त्र) डाले कितने ही पापधर्मा (पापी) असंयमी हैं जो अपने पापकर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं।

३०८. सेय्यो अयोगुळो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥

असंयमी, दुराचारी होकर राष्ट्र का अन्न खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे के गोले को खाना अधिक अच्छा है।

३०९. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं॥

प्रमादी परस्त्रीगामी की चार गतियां होती हैं - (१) अपुण्य-लाभ, (२) सुख की नींद न आना, (३) निंदा, और (४) नरक।

३१०. अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका, भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति, तस्मा नरो परदारं न सेवे॥

(अथवा) अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प कामक्रीड़ा और राजा का (हाथ-पैर काटने जैसा) भारी दंड देना। इसलिए पुरुष परस्त्रीगमन न करे।

३११. कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायुपकड्ढति॥

जैसे ठीक से न पकड़ा गया कुश (=तीक्ष्ण धार वाला तृण) हाथ को ही छेद

देता है, (वैसे ही) गलत प्रकार से ग्रहण किया गया श्रामण्य नरक की ओर खींच ले जाता है।

३१२. यं किञ्चि सिथिलं कम्मं, संकिलिट्ठञ्च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महप्फलं॥

जो कोई कर्म शिथिलता से किया जाय, जो व्रत मलिन है और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है, वह बड़ा फल देने वाला नहीं होता।

३१३. कयिरा चे कयिराथेनं, दळ्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकिरते रजं॥

यदि (कोई काम) करना हो तो उसे करे, उसमें दृढ़ पराक्रम के साथ लग जाय। शिथिल परिव्राजक (अपने भीतर रागरजादि होने से) अधिक मल बिखेरता है।

३१४. अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तप्पति दुक्कटं।
कतञ्च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति॥

दुष्कृत (बुरे काम) का न करना श्रेयस्कर है (क्योंकि) दुष्कृत करने वाला पीछे अनुताप करता है; और सुकृत (अच्छे काम) का करना श्रेयस्कर है जिसे करके (पीछे) अनुताप नहीं करना पड़ता।

३१५. नगरं यथा पच्चन्तं, गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं, खणो वो मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता॥

जैसे (कोई) सीमावर्ती नगर भीतर-बाहर से (खूब) रक्षित होता है, वैसे ही अपने आपको रक्षित रखे। क्षण भर भी न चूके, क्योंकि क्षण को चूके हुए लोग नरक में पड़ कर शोक करते हैं।

३१६. अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥

जो अलज्जा (के काम) में लज्जा करते हैं और लज्जा (के काम) में लज्जा नहीं करते, मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त वे सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१७. अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥

भयरहित (काम में) भय देखने वाले और भय (के काम) में भय को न देखने वाले मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१८. अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥

अदोष में दोष बुद्धि रखने वाले और दोष में अदोष दृष्टि रखने वाले मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१९. वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा, अवज्जञ्च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं॥

दोष को दोष, और अदोष को अदोष जान कर सम्यक्दृष्टिसंपन्न सत्त्व (प्राणी) सुगति को प्राप्त होते हैं।

निरयवग्गो द्वावीसतिमो निट्ठितो।

२३. नागवग्गो

३२०. अहं नागोव सङ्गामे, चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥

जैसे (किसी) संग्राम में हाथी धनुष से छोड़े गये बाण को (सहन करता है) (वैसे ही) मैं (दूसरों के) कटुवचन को सहन करूंगा, क्योंकि (संसार में) दुःशील (व्यक्ति ही) अधिक हैं।

३२१. दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, योतिवाक्यं तितिक्खति॥

दान्त (शिक्षित) हाथी को परिषद में ले जाते हैं। दान्त पर (ही) राजा चढ़ता है। मनुष्यों में भी दान्त (व्यक्ति ही) श्रेष्ठ होता है जो कि कटुवचन को सह लेता है।

३२२. वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं॥

खच्चर, अच्छी नसल के सैंधव घोड़े और महानाग हाथी दान्त (शिक्षित) होने पर उत्तम होते हैं, (परंतु) अपने आप को दान्त किया हुआ (पुरुष) उनसे श्रेष्ठ होता है।

३२३. न हि एतेहि यानेहि, गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति॥

इन (हाथी, घोड़े आदि) सवारियों से बिना गयी दिशा (निर्वाण) तक नहीं जाया जा सकता, जैसे कि अपने आप को सुदान्त बना कर, (कोई) दान्त (व्यक्ति) दान्त (इंद्रियों) के साथ (वहां तक) चला जाता है।

३२४. धनपालो नाम कुञ्जरो, कटुकभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कबळं न भुञ्जति, सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो॥

दुर्निवार, धनपाल नाम का हाथी जिसकी कनपट्टी से मद चू रहा है, बँध जाने पर कवल (कौर) नहीं खाता, (बल्कि) नागवन (हाथियों के जंगल) का स्मरण करता है।

३२५. मिद्धी यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहोव निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥

जो (पुरुष) आलसी, पेटू, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला, और दाना खाकर पुष्ट हुए मोटे सूअर के समान होता है, वह मंदबुद्धि बार-बार गर्भ में पड़ता है।

३२६. इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो॥

यह जो जहां इच्छा हो, जहां कामना हो, जहां सुख दिखे, वहां चलायमान हो जाने वाला चित्त है, पहले इसे अचंचल बनाऊंगा। इसे ऐसे ही भलीभांति वश में करूंगा जैसे कि अंकुशधारी महावत बिगड़ैल हाथी को वश में करता है।

३२७. अप्पमादरता होथ, सचित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पङ्के सन्नोव कुञ्जरो॥

अप्रमाद में जुटो। (अपने) चित्त की रक्षा करो। कीचड़ में धँसे हाथी के समान अपने आपको कठिन मार्ग से बाहर निकालो (और निर्वाण के धरातल पर प्रतिष्ठापित करो)।

३२८. सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥

यदि (किसी को) साथ चलने के लिए (कोई) साधुविहारी, धैर्यसंपन्न, बुद्धिमान साथी मिल जाय, तो (वह) सारी परेशानियों को ताक पर रख कर प्रसन्नवदन और स्मृतिमान होकर उसके संग विचरण करे।

३२९. नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो॥

यदि (किसी को) साथ चलने के लिए (कोई) साधुविहारी, धैर्यसंपन्न, बुद्धिमान साथी न मिले, तो (वह) पराजित राष्ट्र को छोड़ कर जाते हुए राजा के समान अथवा हस्तिवन में हाथी के समान अकेला विचरण करे।

३३०. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा, अप्पोस्सुक्को मातङ्गरञ्ञेव नागो॥

अकेला विचरना उत्तम है, (किंतु) मूढ़ की मित्रता अच्छी नहीं। हस्तिवन में हाथी के समान अनासक्त होकर अकेला विचरण करे और पाप न करे।

३३१. अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया, तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं ॥

काम पड़ने पर मित्रों का होना सुखकर है। जिस किसी (छोटी या बड़ी) चीज से संतुष्ट हो जाना (यह भी) सुखकारक है। जीवन के क्षय होने पर (किया हुआ) पुण्य सुखदायक होता है। सारे दुःखों का प्रहाण (अरहंत हो जाना) (सर्वाधिक) सुखकर है।

३३२. सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा॥

लोक में माता की सेवा करना सुखकर है, (और) ऐसे ही पिता की सेवा (भी) सुखकर है। लोक में श्रमण की सेवा (आदर) करना सुखकर है, और (ऐसे ही) ब्राह्मण की सेवा (आदर) करना भी सुखकर है।

३३३. सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं॥

बुढ़ापे तक शील का पालन करना सुखकर (होता) है, अचल श्रद्धा सुखकर (होती) है, प्रज्ञा का लाभ सुखकर (होता) है (और) पाप (कर्मों) का न करना सुखकर (होता) है।

नागवग्गो तेवीसतिमो निट्ठितो।

२४. तण्हावग्गो

३३४. मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो प्लवती हुरा हुरं, फलमिच्छंव वनस्मि वानरो॥

प्रमत्त होकर आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता की भांति बढ़ती है, वन में फल की इच्छा से एक शाखा छोड़ दूसरी शाखा पकड़ते बंदर की तरह वह एक भव से दूसरे भव में भटकता रहता है।

३३५. यं एसा सहते जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति, अभिवड्ढंव बीरणं॥

लोक में यह विषमयी तृष्णा जिस किसी को अभिभूत कर लेती है, उसके (दुःख-) शोक वैसे ही बढ़ने लगते हैं जैसे कि वर्षा ऋतु में 'बीरण' नाम का जंगली घास (बढ़ता रहता है)।

३३६. यो चेतं सहते जम्मिं, तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दुव पोक्खरा॥

इस (बार-बार) जन्मने वाली दुरतिक्रमणीय तृष्णा को जो लोक में अभिभूत कर देता है, उसके शोक (वैसे ही) झड़ जाते हैं जैसे पद्म (-पत्र) से पानी की बूंद।

३३७. तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थोव बीरणं।
मा वो नळंव सोतोव, मारो भञ्जि पुनप्पुनं॥

इसलिए मैं तुम्हें, जितने यहां आये हो, कहता हूं, तुम्हारे कल्याण के लिए कहता हूं - जैसे खस के लिए (बड़ी कुदाल लेकर) बीरण को खोदते हैं, ऐसे ही तृष्णा को जड़ से उखाड़ डालो। (कहीं ऐसा न हो कि) तुम्हें (देवपुत्र) मार (वैसे ही) बार-बार उखाड़ता रहे जैसे नदी के स्रोत में उगे हुए सरकंडे को (बड़े वेग से आता हुआ) नदी का प्रवाह।

३३८. यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे, छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते, निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥

जैसे जड़ के बिल्कुल नष्ट न होने और (उसके) दृढ़ बने रहने पर कटा हुआ

वृक्ष फिर उग जाता है, वैसे ही तृष्णा-रूपी अनुशय के (जड़ से) उच्छिन्न न होने पर यह दुःख बार-बार उत्पन्न होता है।

३३९. यस्स छत्तिंसति सोता, मनापसवना भुसा।
बाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥

जिसके छत्तीस स्रोत मन को प्रिय लगने वाली (वस्तुओं) की ही ओर जाते हों, उस मिथ्या दृष्टि वाले व्यक्ति को उसके राग निश्रित संकल्प बहा ले जाते हैं।

३४०. सवन्ति सब्बधि सोता, लता उप्पज्ज तिट्ठति।
तञ्च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्ञाय छिन्दथ॥

(ये) स्रोत सभी ओर बहते हैं (जिसके कारण) (तृष्णारूपी) लता अंकुरित रहती है। उस उत्पन्न हुई लता को देख कर प्रज्ञा से उसकी जड़ को काट डालो।

३४१. सरितानि सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते साततिसता सुखेसिनो, ते वे जातिजरूपगा नरा॥

(ये) (तृष्णारूपी) नदियां प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करने वाली होती हैं। इस सुख में आसक्त सुख की चाहना करने वाले जन्म, बुढ़ापा, (रोग तथा मृत्यु) के फेर में जा पड़ते हैं।

३४२. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससोव बन्धितो।
संयोजनसङ्गसत्तका, दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय॥

तृष्णा से परिवारित प्राणी (जंगल में किसी व्याध द्वारा) बँधे हुए खरहे के समान चक्कर काटते रहते हैं। (मन के) बंधनों में फँसे हुए (लोग) लंबे समय तक बार-बार (जन्मादि का) दुःख पाते हैं।

३४३. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससोव बन्धितो।
तस्मा तसिणं विनोदये, आकङ्खन्त विरागमत्तनो॥

तृष्णा से परिवारित प्राणी (जंगल में किसी व्याध द्वारा) बँधे हुए खरहे के समान चक्कर काटते रहते हैं। इसलिए अपने वैराग्य की आकांक्षा करते हुए (साधक) तृष्णा को दूर करे।

३४४. यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेथ पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति॥

जो तृष्णा से छूट कर, तृष्णामुक्त हो, तृष्णा की ओर ही दौड़ता है, उस

(व्यक्ति) को वैसे ही जानो जैसे (कोई बंधन से मुक्त हुआ) पुरुष फिर बंधन की ओर ही भागने लगे।

३४५. न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजपब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥

(यह) जो लोहे, लकड़ी, या रस्सी का बंधन है, उसे पंडित (जन) दृढ़ बंधन नहीं कहते। (वस्तुतः दृढ़ बंधन होता है) मणियों, कुंडलों, पुत्रों तथा स्त्री में तृष्णा का होना।

३४६. एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति, अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय॥

पंडित (जन) इसी को दृढ़, पतनोन्मुख, शिथिल और दुस्त्याज्य बंधन कहते हैं। वे अपेक्षारहित हो, कामसुख को छोड़ कर, इस (दृढ़ बंधन) को भी (ज्ञान-रूपी खड्ग से) काट कर प्रव्रजित हो जाते हैं।

३४७. ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयंकतं मक्कटकोव जालं।
एतम्पि छेत्वान वजन्ति धीरा, अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय॥

जैसे मकड़ा स्वयं बनाये हुए जाल में (फँस जाता है), वैसे ही राग-रंजित (लोग) स्वयं बनाये (तृष्णारूपी) स्रोत में गिर जाते हैं। पंडित (जन) सारे दुःखों का प्रहाण कर इस स्रोत को भी काट कर अपेक्षारहित हो चल देते हैं।

३४८. मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि॥

आगे (भूत), पीछे (भविष्य) और मध्य (वर्तमान) की (सारी बातों को) छोड़ दो अर्थात सभी स्कंधों को त्याग दो (और उन्हें छोड़ कर) भव (-सागर) के पार हो जाओ। सब ओर से विमुक्तचित्त होकर (तुम) फिर जन्म, बुढ़ापा (और मृत्यु) को नहीं प्राप्त होगे।

३४९. वितक्कमथितस्सजन्तुनो,तिब्बरागस्ससुभानुपस्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दळ्हं करोति बन्धनं॥

(कामवितर्कादि से) ग्रस्त, तीव्र राग युक्त और शुभ ही शुभ (सुंदर ही सुंदर) देखने वाले प्राणी की तृष्णा और भी प्रवृद्ध होती (खूब बढ़ती) है। (इससे) वह (अपने लिए) और भी दृढ़ बंधन तैयार करता है।

३५०. वितक्कूपसमे च यो रतो, असुभं भावयते सदा सतो।
एस खो ब्यन्ति काहिति, एस छेच्छति मारबन्धनं॥

जो वितर्कों को शांत करने में लगा है (और) सदा स्मृतिमान रह अशुभ की भावना करता है, वह मार के बंधन को काट देगा, वह निश्चय ही इस (तृष्णा) का विनाश कर देगा।

३५१. निट्ठङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोयं समुस्सयो॥

जिसने लक्ष्य (अर्हत्व) पा लिया हो, जो निर्भय, तृष्णारहित और मलविहीन हो गया हो, जिसने भव (प्राप्त कराने वाले) शल्यों को काट दिया हो, उसका यह अंतिम जीवन (होता) है।

३५२. वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं, जञ्ञा पुब्बापरानि च।
स वे "अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो महापुरिसो"ति वुच्चति॥

जो तृष्णारहित अपरिग्रही, निरुक्ति और पद (चार प्रतिसंभिदाओं) में निपुण हो, और अक्षरों को पहले पीछे (के क्रम से) रखना जानता हो, वही अंतिम देहधारी, महाप्राज्ञ और महापुरुष कहा जाता है।

३५३. सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥

(मैं) सबको अभिभूत (परास्त) करने वाला, सर्वज्ञ, सारे धर्मों से अलिप्त, सर्वत्यागी हूं, तृष्णा का क्षय हो जाने से विमुक्त हूं। (परम ज्ञान को) स्वयं की अभिज्ञा से जान कर (मैं) किसको (अपना उपाध्याय या आचार्य) बतलाऊं?

३५४. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति॥

धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है (सब दानों में श्रेष्ठ है)। धर्म का रस सब रसों को जीत लेता है (सब रसों में श्रेष्ठ है)। धर्म में रमण करना सभी रमण-सुखों को जीत लेता है (सब रतियों में श्रेष्ठ है)। तृष्णा का क्षय सब दुःखों को जीत लेता है (अर्थात, सबसे श्रेष्ठ है)।

३५५. हनन्ति भोगा दुम्मेधं, नो च पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो, हन्ति अञ्ञेव अत्तनं॥

(संसार को) पार करने का प्रयत्न न करने वाले दुर्बुद्धि को भोग नष्ट कर देते हैं। भोगों की तृष्णा में पड़ कर (वह) दुर्बुद्धि पराये के समान अपना ही हनन कर लेता है।

३५६. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥

खेतों का दोष है (इनमें उगने वाले भांति-भांति के) तृण (क्योंकि ऐसे खेत बहुत नहीं उपजते)। इस प्रजा का दोष है (इसके अंदर जागने वाला) राग। (ऐसे लोगों को दान देने से कोई बड़ा फल प्राप्त नहीं होता)। इसलिए वीतराग (व्यक्तियों) को (ही दान देना चाहिए) जिससे महान फल प्राप्त होता है।

३५७. तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है द्वेष। इसलिए वीतद्वेष (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

३५८. तिणदोसानि खेत्तानि, मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है मोह। इसलिए वीतमोह (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

३५९. तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादोसा अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥
तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीततण्हेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है इच्छा। इसलिए इच्छारहित (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है। खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है तृष्णा। इसलिए तृष्णारहित (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

तण्हावग्गो चतुवीसतिमो निट्ठितो।

२५. भिक्खुवग्गो

३६०. चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घानेन संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो॥

चक्षु का संवर (संयम) अच्छा है, अच्छा है श्रोत्र का संवर। घ्राण का संवर अच्छा है, अच्छा है जिह्वा का संवर।

३६१. कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

काय (शरीर) का संवर अच्छा है, अच्छा है वाणी का संवर। मन का संवर अच्छा है, अच्छा है सर्वत्र (इंद्रियों का) संवर। सर्वत्र संवर-प्राप्त भिक्षु (साधक) सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है।

३६२. हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचासंयतो संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥

जो हाथ, पैर और वाणी में संयत है, (जो) उत्तम संयमी है, अपने भीतर की (सच्चाइयों को) जानने में लगा है, समाधियुक्त, एकाकी और संतुष्ट है, उसे 'भिक्षु' कहते हैं।

३६३. यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं॥

जो भिक्षु मुख से संयत है, सोच-विचार कर बोलता है, उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्म को प्रकाशित करता है, उसका बोल मीठा होता है।

३६४. धम्मारामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति॥

धर्म में रमण करने वाला, धर्म में रत, धर्म का चिंतन करते, धर्म का पालन करते भिक्षु (साधक) सद्धर्म से च्युत नहीं होता।

३६५. सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति॥

अपने लाभ की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, दूसरों के (लाभ की) स्पृहा नहीं

करनी चाहिए। दूसरों के (लाभ की) स्पृहा करने वाला भिक्षु (साधक) चित्त की एकाग्रता को नहीं प्राप्त कर पाता।

३६६. अप्पलाभोपि चे भिक्खु, सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं॥

थोड़ा-सा लाभ मिलने पर भी यदि भिक्षु (साधक) अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता है, तो उस शुद्ध जीविका वाले, निरालस की देवता प्रशंसा करते हैं।

३६७. सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति, स वे "भिक्खू"ति वुच्चति॥

नामरूप के प्रति जिसका बिल्कुल ही 'मै' 'मेरे' का भाव नहीं, जो (उनके) नहीं होने पर शोक नहीं करता, वही 'भिक्षु' कहा जाता है।

३६८. मेत्ताविहारी यो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥

मैत्री (भावना) से विहार करता हुआ जो भिक्षु (साधक) बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहता है, (वह) (सभी) संस्कारों का शमन करने वाले शांत (और) सुखमय पद (निर्वाण) को प्राप्त करता है।

३६९. सिञ्च भिक्खु इमं नावं, सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च, ततो निब्बानमेहिसि॥

हे भिक्षु (साधक)! इस (आत्मभाव नाम की) नाव को उलीचो, उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष (रूपी बंधनों) का छेदन कर, फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।

३७०. पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये।
पञ्चसङ्गातिगोभिक्खु, "ओघतिण्णो"तिवुच्चति॥

(सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपरामर्श, कामराग और व्यापाद - इन) पांच (अवरभागीय संयोजनों) का छेदन करे, (रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या - इन) पांच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को छोड़ दे, और तदुपरांत (इनके प्रहाण के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा - इन) पांच (इंद्रियों) की भावना करे। जो भिक्षु (साधक) पांच आसक्तियों (राग, द्वेष, मोह, मान और दृष्टि) का अतिक्रमण कर चुका हो, वह (काम, भव, दृष्टि तथा

अविद्या रूपी चार प्रकार की) बाढ़ों को पार किया हुआ 'ओघतीर्ण' कहा जाता है।

३७१. झाय भिक्खु मा पमादो, मा ते कामगुणे रमेस्सु चित्तं।
मालोहगुळंगिलीपमत्तो,माकन्दि"दुक्खमिद"न्ति डय्हमानो॥

हे भिक्षु (साधक)! ध्यान करो, प्रमाद में मत पड़ो। तुम्हारा चित्त (पांच प्रकार के) कामगुणों (भोगों) के चक्कर में मत पड़े। प्रमत्त होकर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय! यह दुःख' कह कर जलते हुए तुम्हें (कहीं) क्रंदन न करना पड़े।

३७२. नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके॥

प्रज्ञाविहीन (पुरुष) का ध्यान नहीं होता, ध्यान न करने वाले को प्रज्ञा नहीं होती। जिसके पास ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाण के समीप (स्थित) होता है।

३७३. सुञ्ञागारं पविट्ठस्स, सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रति होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो॥

किसी शून्यागार में प्रवेश करके कोई शांत-चित्त साधक जब सम्यक रूप से धर्मानुपश्यना करता है, तब उसे लोकोत्तर सुख प्राप्त होता है (जो कि सामान्य मानवीय लोकीय सुखों से परे होता है)।

३७४. यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं॥

साधक (सम्यक सावधानता के साथ) जब-जब (शरीर और चित्त) स्कंधों के उदय-व्यय रूपी अनित्यता की विपश्यना द्वारा अनुभूति करता है, तब-तब उसे प्रीति-प्रमोद (रूपी अध्यात्म-सुख) की उपलब्धि होती है। ज्ञानियों के लिए यह अमृत है।

३७५. तत्रायमादि भवति, इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो॥

यहां (इस धर्म में) प्रज्ञावान भिक्षु (साधक) को आरंभ में करना होता है- इंद्रियों का संवर, संतोष और प्रातिमोक्ष (भिक्षु-विनय के नियमों) में संवर।

३७६. मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते।
पटिसन्थारवुत्यस्स, आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति॥

(वह इसके लिए) शुद्ध जीविका वाले, निरालस, कल्याणकारी मित्रों का साथ करे। वह मैत्रीपूर्ण स्वागत करने वाला हो, आचार-पालन में कुशल हो। उससे वह प्रमोद की बहुलता के साथ दुःख का अंत कर लेगा।

३७७. वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो॥

(जैसे) जूही (अपने) कुम्हलाये हुए फूलों को छोड़ देती है, वैसे ही हे भिक्षुओ (साधको)! (तुम) राग ओर द्वेष को छोड़ दो।

३७८. सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, "उपसन्तो"ति वुच्चति॥

शरीर (और) वाणी से शांत, शांतिप्राप्त, सुसमाहित, लोक के आमिष (लौकिक भोगों) को वमन किये हुए भिक्षु (साधक) को 'उपशांत' कहा जाता है।

३७९. अत्तना चोदयत्तानं, पटिमंसेथ अत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि॥

जो अपने आपको स्वयं प्रेरित करे, अपना परीक्षण स्वयं करे, वह अपने द्वारा रक्षित, स्मृतिमान भिक्षु (साधक) सुखपूर्वक विहार करेगा।

३८०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयममत्तानं, अस्सं भद्रंव वाणिजो॥

व्यक्ति स्वयं ही अपना स्वामी है, स्वयं ही अपनी गति (शरण) है। इसलिए अपने आपको संयत करे, वैसे ही जैसे कि अच्छे घोड़ों का व्यापारी अपने घोड़ों को (करता है)।

३८१. पामोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥

बुद्ध के शासन में प्रसन्न (रहने वाला) प्रमोदबहुल भिक्षु (साधक) (सभी)

संस्कारों के उपशमन से (प्राप्त होने वाले) सुखमय शांत पद (निर्वाण) को प्राप्त करे।

३८२. यो हवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा॥

जो कोई तरुण साधक भी बुद्ध के शासन में लग जाता है, वह (अर्हत्व-प्राप्ति के मार्ग के ज्ञान से) मेघमुक्त चंद्रमा के समान इस (खंधादिभेद) लोक को प्रकाशित करता है।

भिक्खुवग्गो पञ्चवीसतिमो निट्ठितो।

२६. ब्राह्मणवग्गो

३८३. छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण।
सङ्खारानं खयं ञत्वा, अकतञ्ञूसि ब्राह्मण॥

हे ब्राह्मण! (तृष्णारूपी) स्रोत को काट दे, पराक्रम कर कामनाओं को दूर कर। संस्कारों के क्षय को जान कर, हे ब्राह्मण! (तू) अकृत (निर्वाण) का जानने वाला हो जा।

३८४. यदा द्वयेसु धम्मेसु, पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो॥

जब (कोई) ब्राह्मण दो धर्मों (शमथ और विपश्यना) में पारंगत हो जाता है, तब उस जानकार के सभी बंधन नष्ट हो जाते हैं।

३८५. यस्स पारं अपारं वा, पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसके पार (भीतर के छह आयतन - आंख, कान, नाक, जीभ, काय और मन), अपार (बाहर के छह आयतन - रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म) या पार-अपार (ये दोनों ही, अर्थात 'मैं' 'मेरे' का भाव) नहीं हैं, जो निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३८६. झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चमनासवं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(जो) ध्यानी, विमल, आसनबद्ध (स्थिर), कृतकृत्य, और आश्रवरहित हो, जिसने उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३८७. दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा॥

दिन में सूर्य तपता है, रात में चंद्रमा भासता है, कवच पहन क्षत्रिय चमकता है, ध्यान करता हुआ ब्राह्मण चमकता है, और सारे रात-दिन बुद्ध (अपने) तेज से चमकते है।

३८८. बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा "पब्बजितो"ति वुच्चति॥

ब्राह्मण वह (कहलाता) है जिसने पापों को बहा दिया, श्रमण वह है जिसकी चर्या समतापूर्ण है, और प्रव्रजित वह कहलाता है जिसने अपने चित्त के मैल दूर कर लिये।

३८९. न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं, ततो धी यस्स मुञ्चति॥

ब्राह्मण (निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिए, (और) ब्राह्मण को भी उस (प्रहार करने वाले) पर कोप नहीं करना चाहिए। धिक्कार है ब्राह्मण की हत्या करने वाले पर, और उससे भी अधिक धिक्कार है उस पर जो (इसके लिए) कोप करता है।

३९०. न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो, यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति, ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं॥

ब्राह्मण के लिए यह कम श्रेयस्कर नहीं होता जब (वह) मन से प्रियों को निकाल देता है। जहां-जहां मन हिंसा से टलता है, वहां-वहां दुःख शांत होता ही है।

३९१. यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कटं।
संवुतं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो शरीर से, वाणी से और मन से दुष्कर्म नहीं करता, जो इन तीनों क्षेत्रों में संयमयुक्त है, उसे (ही) मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३९२. यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, अग्गिहुत्तंव ब्राह्मणो॥

जिस (किसी) से सम्यक संबुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने, उसे (वैसे ही) सत्कारपूर्वक नमस्कार करे जैसे अग्निहोत्र को ब्राह्मण (नमस्कार करता है)।

३९३. न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ही ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य (सोलह

प्रकार से प्रतिवेधन किये हुए चार आर्य-सत्य) और (नौ प्रकार के लोकोत्तर) धर्म हैं, वही शुचि (पवित्र) है और वही ब्राह्मण है।

३९४. किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि॥

अरे दुष्प्रज्ञ! जटाओं से तेरा क्या बनेगा? मृगचर्म धारण करने से तेरा क्या लाभ होगा? भीतर तो तेरा चित्त गहन मलीनता से भरा पड़ा है। बाहर-बाहर से तू इस शरीर को क्या रगड़ता-धोता है?

३९५. पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो फटे चीथड़ों को धारण करता है, जो कृश है, जिसके शरीर की सभी नसें दिखाई पड़ती है, और जो वन में एकाकी ध्यान करने वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३९६. न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।
भोवादि नाम सो होति, सचे होति सकिञ्चनो।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

यदि वह परिग्रही (आसक्ति युक्त) है और भो वादी है तो (ब्राह्मणी) माता के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी उसे मैं ब्राह्मण नहीं कहता। जो अपरिग्रही है और अनासक्त है उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३९७. सब्बसंयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो सारे संयोजनों (बंधनों) को काट कर भय नहीं खाता, जो तृष्णा एवं संयोजन के पार चला गया है, और जिसे संसार में आसक्ति नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३९८. छेत्वा नद्धिं वरत्तञ्च, सन्दानं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो नद्धा (क्रोध), वरत्रा (तृष्णा रूपी रस्सी), संदान (बासठ प्रकार की दृष्टियां रूपी पगहे), और हनुक्रम (मुंह पर बांधे जाने वाले जाल, अनुशय) को काट कर तथा पटिघ (अविद्या रूपी जूए) को (उतार) फेंक बुद्ध हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

३९९. अक्कोसं वधबन्धञ्च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो (चित्त को) बिना दूषित किये गाली, वध (दण्ड) और बंधन (कारावास) को सह लेता है, सहन-शक्ति (क्षमा-बल) ही जिसकी सेना है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४००. अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सदं।
दन्तं अन्तिमसारीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो अक्रोधी, (धुत-) व्रती, शीलवान, (तृष्णा के न रहने से) निरभिमानी है, (दंभी नहीं है), (छह इंद्रियों का दमन कर लेने से) दान्त (संयमी) और अंतिम शरीर धारी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०१. वारि पोक्खरपत्तेव, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

पद्म-पत्र पर जल और सूई केसिरे पर सरसों के दाने के समान जो कामभोगों में लिप्त नहीं होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०२. यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो यहीं (इसी लोक में) अपने (खंध-) दुःख के क्षय को प्रज्ञापूर्वक जान लेता है, जिसने अपना बोझ उतार फेंका है, (और) जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०३. गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

गहन प्रज्ञा वाले, मेधावी, मार्ग-अमार्ग के पंडित, उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त हुए (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०४. असंसट्ठं गहट्ठेहि, अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिमप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो गृहस्थों तथा गृह-त्यागियों दोनों में लिप्त नहीं होता, जो बिना (ठौर-) ठिकाने के घूमने वाला और अल्पेच्छ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०५. निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

स्थावर व जंगम (चर व अचर) सभी प्राणियों के प्रति जिसने दंड त्याग दिया है (हिंसा त्याग दी है), जो न किसी की हत्या करता है, न हत्या करवाता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०६. अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो विरोधियों के बीच अविरोधी (बन कर) रहता है, दंडधारियों के बीच शांति से रहता है, परिग्रह करने वालों में अपरिग्रही (होकर) रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०७. यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसके (चित्त से) राग, द्वेष, अभिमान और म्रक्ष (डाह) ऐसे ही गिर पड़े हैं जैसे सूई के सिरे से सरसों के दाने, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०८. अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चमुदीरये।
याय नाभिसजे कञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो (इस प्रकार की) अकर्कश, सार्थक (विषय को स्पष्ट करने वाली), सच्ची वाणी को बोले जिससे किसी को पीड़ा न पहुंचे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४०९. योध दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो यहां इस लोक में लम्बी या छोटी, मोटी या महीन, सुंदर या असुंदर वस्तु बिना दिये नहीं लेता, अर्थात उसकी चोरी नहीं करता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१०. आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासासं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसके (मन में) इस लोक अथवा परलोक के संबंध में कोई आशा-आकांक्षा नहीं रह गयी है, जो सभी प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं (और आसक्तियों) से मुक्त हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४११. यस्सालया न विज्जन्ति, अञ्ञाय अकथंकथी।
अमतोगधमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसको आलय (तृष्णा) नहीं है, जो सब कुछ जान कर संदेहरहित हो गया है, जिसने अवगाहन करके (डुबकी लगा कर) निर्वाण प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१२. योध पुञ्ञञ्च पापञ्च, उभो सङ्गमुपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो यहां (इस लोक में) पुण्य और पाप दोनों के प्रति आसक्ति से परे चला गया है, जो शोकरहित, विमल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१३. चन्दंव विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो चंद्रमा के समान विमल, शुद्ध, निखरा हुआ और मलरहित है, और (जिसकी) भवतृष्णा पूरी तरह क्षीण हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१४. योमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी, अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसने इस दुर्गम संसार (जन्म-मरण) के चक्कर में डालने वाले मोह-रूपी उल्टे मार्ग को त्याग दिया है, जो तरा हुआ, पार गया हुआ, ध्यानी, (तृष्णाविरहित होने से) स्थिर, संदेहरहित और बिना किसी उपादान के निर्वाणलाभी हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१५. योध कामे पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो यहां (इस लोक में) कामभोगों का परित्याग कर, घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित हो जाय, और जिसका कामभव पूरी तरह क्षीण हो गया हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१६. योध तण्हं पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो यहां (इस लोक में) तृष्णा का परित्याग कर, घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित हो

जाय, और जिसकी (भवतृष्णा) पूरी तरह क्षीण हो गयी हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१७. हित्वा मानुसकं योगं, दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो मानुषिक बंधन और दैवी बंधन से परे चला गया है, जो सब प्रकार के बंधनों से विमुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१८. हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च, सीतिभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो (पंचकामगुणरूपिणी) रति और (अरण्यवास की उत्कंठास्वरूप) अरति को छोड़ कर शांत और क्लेशरहित हो गया है, और जो सारे लोकों को जीत कर वीर (बना) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४१९. चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिञ्च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो सत्त्वों (प्राणियों) की च्युति और उत्पत्ति को पूरी तरह से जानता है, और (जो) अनासक्त, अच्छी गति वाला और बोधिसंपन्न है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४२०. यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसकी गति देव, गंधर्व और मनुष्य नहीं जानते, और जो क्षीणाश्रव अरहंत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४२१. यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जिसके आगे, पीछे और बीच में कुछ नहीं है अर्थात जो अतीत, अनागत और वर्तमान की सभी कामनाओं से मुक्त है, जो अकिंचन और अपरिग्रही है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४२२. उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं।
अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो श्रेष्ठ, प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकंप्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४२३. पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति,
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

जो (अपने) पूर्व-निवास को जानता है, और स्वर्ग तथा नरक को देख लेता है, और फिर जन्म के क्षय को प्राप्त हुआ अपनी अभिज्ञाओं को पूर्ण किया हुआ मुनि है (और) जिसने जो कुछ करना था वह सब कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो निट्ठितो।

एत्तावता सब्बपठमे यमकवग्गे चुद्दस वत्थूनि, अप्पमादवग्गे नव, चित्तवग्गे नव, पुप्फवग्गे द्वादस, बालवग्गे पन्नरस, पण्डितवग्गे एकादस, अरहन्तवग्गे दस, सहस्सवग्गे चुद्दस, पापवग्गे द्वादस, दण्डवग्गे एकादस, जरावग्गे नव, अत्तवग्गे दस, लोकवग्गे एकादस, बुद्धवग्गे नव, सुखवग्गे अट्ठ, पियवग्गे नव, कोधवग्गे अट्ठ, मलवग्गे द्वादस, धम्मट्ठवग्गे दस, मग्गवग्गे द्वादस, पकिण्णकवग्गे नव, निरयवग्गे नव, नागवग्गे अट्ठ, तण्हावग्गे द्वादस, भिक्खुवग्गे द्वादस, ब्राह्मणवग्गे चत्तालीसाति पञ्चाधिकानि तीणि वत्थुसतानि।

सतेवीसचतुस्सता, चतुसच्चविभाविना।
सतत्तयञ्च वत्थूनं, पञ्चाधिकं समुट्ठिताति॥

धम्मपदे वग्गानमुद्दानं

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फं बालेन पण्डितो।
अरहन्तो सहस्सञ्च, पापं दण्डेन ते दस॥

जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुखं पियेन च।
कोधो मलञ्च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति॥

पकिण्णं निरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो।
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्चबन्धुना॥

गाथानमुद्दानं

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस।
एकादस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोळस॥

बाले च सोळस गाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस।
अरहन्ते दस गाथा, सहस्से होन्ति सोळस॥

तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च।
एकादस जरा वग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस॥

द्वादस लोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस।
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस॥

चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेकवीसति।
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस॥

पकिण्णे सोळस गाथा, निरये नागे च चुद्दस।
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिका॥

एकतालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे।
गाथासतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे।
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्चबन्धुनाति॥

धम्मपद निट्ठिता।

परिशिष्ट-१

'धम्मपद' की गाथाओं से मेल खाते विपश्यनाचार्य
श्री सत्यनारायण गोयन्काजी
द्वारा विरचित हिंदी/राजस्थानी दोहे

गाथा-००४ गाली दी मारा मुझे, हाय लिया सब लूट।
ज्यूं ही यह चिंतन छुटे, बैर जायँ सब छूट॥

गाथा-००५ बैर बैर से ना मिटे, बढ़े द्वेष दुष्कर्म।
बैर मिटे मैत्री किये, यही सनातन धर्म॥

गाथा-००८ कम खाणो, कम बोलणो, काया वाणी मौन।
मार न विचलित कर सकै, ज्यूं परबत नै पौन॥

गाथा-०११ माने सार असार को, और सार निस्सार।
कहां मिले उस मूढ़ को, शुद्ध धरम का सार॥

गाथा-०१२ (१)
समझ लिया है सार को, छोड़ दिया निस्सार।
सम्यक द्रष्टा विज्ञजन, वे ही पायें सार॥

(२)
जिसने समझा सार को, छोड़ दिया निस्सार।
सम्यक द्रष्टा विज्ञजन, हुए दुखों के पार॥

गाथा-०१४ (१)
ज्यों छायी छत में नहीं, वर्षा-जल घुस पाय।
त्यों ही संयत चित्त में, राग द्वेष ना आय॥

(२)

कुटिया छायी जतन से, अब बरसो मेघेश।
छायी चित पर धरम छत, होय न राग प्रवेश॥

गाथा-०१९ कितने फल इस तरु लगे? जाने चौकीदार।
केवल गिनती ही गिने, फल न चखे लाचार॥

गाथा-०२५ प्रलयंकारी बाढ़ में, तू ही तेरा द्वीप।
अंधकारमय रात में, तू ही तेरा दीप॥

गाथा-०४२ जितनी हानि न कर सकें, दुश्मन द्वेषी दोय।
अधिक हानि निज मन करे, जब मन मैला होय॥

गाथा-०४३ मां बापू प्रिय बंधुजन, भला करें सब कोय।
अधिक भला निज मन करे, जब यह उजला होय॥

गाथा-०५४ गंध गुलाब वहीं चले, चले पवन जिस ओर।
शील गंध बिन पवन के, गमके चारों ओर॥

गाथा-१०३ रण सहस्र योद्धा लड़े, जीते युद्ध हजार।
पर जो जीते स्वयं को, वही शूर सरदार॥

गाथा-११० सौ वर्षों की जिंदगी, बिना शील दी खोय।
शीलवान का एक दिन, सदा श्रेष्ठतर होय॥

गाथा-१११ सौ वर्षों की जिंदगी, बिन प्रज्ञा दी खोय।
प्रज्ञानी का एक दिन, महा मांगलिक होय॥

गाथा-१२७ सागर तल, पर्वत गुहा, अंतरिक्ष का छोर।
पाप फलों से बच सकें, ऐसा दिखे न ठोर॥

गाथा-१२८ जल में, थल में, गगन में, नहीं सुरक्षित कोय।
ऐसा स्थान न जगत में, जहां मरण ना होय॥

गाथा-१२९ मत हत्या कर, मार मत, सबको प्यारे प्राण।
अपनी सी ही वेदना, सब जीवों की जान॥

गाथा-१३० मत पीड़ा, मत त्रास दे, मत हर इनके प्राण।
सुख-दुख सबके एक से, सारे जीव समान॥

गाथा-१५३ जब जब जन्मा बिन रुके, रहा लगाता दौड़।
कदम कदम बढ़ता रहा, मृत्यु द्वार की ओर॥

गाथा-१६५ हम ही अपने कर्म से, होते शुद्ध अशुद्ध।
अन्य कौन शोधन करे, देव, ब्रह्म या बुद्ध॥

गाथा-१६६ नहीं दोष है स्वार्थ में, सही स्वार्थ ले जान।
अपना करे अनर्थ ही, बिना स्वार्थ पहचान॥

गाथा-१८३ जीवन भर करते रहें, कुशल कर्म भरपूर।
अकुशल से बचते रहें, रहें पाप से दूर॥

गाथा-१९७ रहे बैरियों में मगर, चित बैरी ना होय।
सबका ही चाहे भला, सच्चा मंगल होय॥

गाथा-२०४ (१)
परम लाभ 'आरोग्य' है, परम मित्र 'संतोष'।
परम बंधु 'विश्वास' है, 'मुक्ति' परम सुख कोष॥

(२)
नहीं लाभ आरोग्य सम, धन संतुष्टि समान।
नहीं बंधु विश्वास सम, सुख सदृश निर्वाण॥

गाथा-२१५ काम जगै तो भय जगै, जागै मन मँह सोक।
काम तज्यां निरभय हुवै, सहजां हुवै निसोक॥

गाथा-२१६ तृष्णा से दुख जागते, तृष्णा से भय होय।
तृष्णा त्यागे दुख मिटे, भय काहे से होय॥

गाथा-२२३ जीत झूठ को सत्य से, क्रोध जीत अक्रोध।
जीत घृणा को प्यार से, मैल चित्त के शोध॥

गाथा-२४० अपने मन का मैल ही, अपना नाश कराय।
ज्यूं लोहे का जंग ही, लोहे को खा जाय॥

गाथा-२५१ राग सदृश न रोग है, द्वेष सदृश ना दोष।
मोह सदृश न मूढ़ता, धरम सदृश न होश॥

गाथा-२५२ प्रकट करे पर दोष को, ढकता अपने दाग।
पर निंदा निज स्तुति निरत, व्याकुल रहे अभाग॥

गाथा-२७७ सै संस्कार अनित्य है, देख ग्यान सूं देख।
प्रग्या सूं देखण लगै, दुख की रवै न रेख॥

गाथा-२८८ (१)
पूत न रच्छा कर सकै, बाप न सकै बचाय।
नूंतो आवै काळ को, कूण सकै सरकाय॥

(२)
पुत्र न रक्षा कर सके, पिता न माता भ्रात।
कौन बचा पाए भला, काल करे जब घात॥

गाथा-३३८ तृष्णा जड़ से खोद कर, अनासक्त बन जायँ।
भव सागर से तरन का, यह ही एक उपाय॥

गाथा-३५४ (१)
सब दानों से श्रेष्ठ है, धर्म रतन का दान।
दायक पाये पुण्य बल, ग्राहक सुख निर्वाण॥

(२)

धरम दान सब दान मँह, सिरै मोर ही होय।
सभी रसां मँह धरम रस, अतुलित हितकर होय॥

गाथा-३६१ वाणी तो वश में भली, वश में भला शरीर।
पर जो मन वश में करे, वही संयमी वीर॥

गाथा-३६४ सदा सोचिए धर्म ही, सदा बोलिए धर्म।
हो शरीर से धर्म ही, यही मुक्ति का मर्म॥

गाथा-३७३ (१)

शांत चित्त अंतर्मुखी, बैठे शून्यागार।
देखत देखत वेदना, दिखे परम सुख सार॥

(२)

आंख मूंद अन्तरमुखी, बैठे शून्यागार!
देखत देखत वेदना, मिले सुखों का सार॥

गाथा-३७४ जहां जहां इस स्कंध में, सम्यक स्मृति जग जाय।
वहीं दिखे उत्पाद-व्यय, तो अमृत मिल जाय॥

गाथा-३९४ जटा जूट माला तिलक, हुए शीश के भार।
भेष बदल कर क्या मिला, मन के मैल उतार॥

विपश्यना साधना केंद्र

विश्वभर में विपश्यना के कुल 300 केंद्र हैं जिनमें भारत में 140 केंद्र हैं। इन केंद्रों पर प्राय: हर माह दस दिवसीय, लघु तथा दीर्घ आवासीय शिविर आयोजित होते हैं। उनमें से प्रमुख केंद्र धम्मगिरि का नाम यहां दिया जा रहा है साथ ही धम्मपत्तन तथा ग्लोबल विपश्यना पगोडा के भी नाम दिये जा रहे हैं। शेष सभी विपश्यना केंद्रों के पते, फोन, इमेल एवं शिविर की जानकारी निम्न वेबसाइट पर प्राप्त कर सकते हैं:

Website: www.vridhamma.org, www.dhamma.org

प्रमुख केंद्र– धम्मगिरि: विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, जिला: नाशिक, फोन: ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४४१४४, २४४४४०, Extn. (पुरुष कार्यालय) ३४८, (महिला कार्यालय) ३४०, **Website:** www.vridhamma.org, **Email:** <info.giri@vridhamma.org>

धम्मपत्तन: एस्सेल वर्ल्ड के पास, गोराई खाड़ी, बोरीवली (पश्चिम) मुंबई - ४०००९१, व्यवस्थापक, फोन +९१ ०२२-५०४२७५००, Extn. (पुरुष कार्यालय) ५१९, (महिला कार्यालय) ५४६, **Email:** info.pattana@vridhamma.org **Website:** www.pattana.dhamma.org

ग्लोबल विपश्यना पगोडा: एस्सेल वर्ल्ड के पास, गोराई खाड़ी, बोरीवली (पश्चिम) मुंबई - ४०००९१, फोन: ०२२-५०४२७५०० – Ext. No. ९, Mob. ८२९१८९४६४४

विपश्यना विशोधन विन्यास

पुस्तक, सीडी एवं पत्रिका के लिए निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२४०३
जिला - नाशिक, महाराष्ट्र
फोन: ०२५५३-२४४९९८, २४३५५३, २४४०७६, २४४०८६,
८४८४८३४८३७, ८४८४८३७८३५,
८४८४८३९८३७, ८४८४८३१८३५,
मो. ७५८८७१००४२ (पुस्तक/सीडी)
मो. ९४०५६१८८६९ (मासिक पत्रिका)

(दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवादित विपश्यना साहित्य स्थानीय केंद्रों **तथा धम्मगिरि पर उपलब्ध है**)

विपश्यना विशोधन विन्यास के प्रकाशन अब ऑनलाइन भी खरीदे जा सकते हैं। कृपया देखें:

Website: www.vridhamma.org
Email: vri_admin@vridhamma.org

विपश्यनाचार्य के बारे में

एस.एन. गोयन्का (1924-2013) 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 21वीं शताब्दी के प्रारंभ के विपश्यना ध्यान के प्रमुख गृहस्थ आचार्य थे। भारतीय मूल के एक परिवार में म्यानमार में जनमे, उन्होंने बहुत कम उम्र में व्यवसाय में उल्लेखनीय सफलता हासिल की। हालाँकि, सफलता के साथ मानसिक तनाव और उससे संबंधित कष्ट भी आए। 1955 में, उन्होंने सयाजी ऊ बा खिन के मार्गदर्शन में विपश्यना सीखी, एक जीवन बदलने वाला अनुभव जिसे उन्होंने एक गहन दूसरे जन्म के रूप में वर्णित किया। 1969 में उनके गुरु ने उन्हें विपश्यना को भारत, इसकी उत्पत्ति की भूमि में वापस लाने के लिए प्रोत्साहित किया और वहाँ से विपश्यना दुनिया भर में फैलनी शुरू हुई। उनकी पत्नी, श्रीमती इलाइचीदेवी गोयन्का (1930-2016), उनकी यात्राओं और कार्यों में एक दृढ़ साथी और सहयोगी थीं।

आज, छह महाद्वीपों में 300 से अधिक स्थायी विपश्यना केंद्र हैं, और कई अस्थायी-केंद्र हैं जहाँ विपश्यना ध्यान को उनके मूल रिकॉर्ड किए गए निर्देशों के साथ सिखाया जाता है। पाठ्यक्रम विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध हैं, जो विविध पृष्ठभूमि से हर साल लाखों प्रतिभागियों को आकर्षित करते हैं। आंतरिक शांति का यह सरल, गैर-सांप्रदायिक मार्ग दुनिया भर के सभी विभिन्न धर्मों, समुदायों और समाजों के लोगों को आकर्षित करना जारी रखता है।

पुस्तक परिचय

पालि वाङ्मय (तिपिटक) में बुद्ध के अमूल्य उपदेश संरक्षित हैं। तिपिटक का अर्थ तीन पिटारियां हैं जो विनय पिटक, सुत्तपिटक, और अभिधम्म पिटक कहलाती हैं। सुत्तपिटक का विभाजन पांच निकायों में जैसे– दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अङ्गुत्तर और खुद्दक निकाय में हुआ। धम्मपद खुद्दकनिकाय का भाग है।

तिपिटक में धम्मपद बहुत ही लोकप्रिय है जिसे बहुत से लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। यह 26 वर्गों में 423 गाथाओं का संकलन है। कई गाथाएं इस तरह संकलित हैं जैसे दुःख-सुख, प्रमाद-अप्रमाद, पंडित-मूर्ख। इस तरह गाथाओं को क्रमानुसार करने का एक उद्देश्य है: हर काम के फल पर विचार कर ऐसा मार्ग चुनना जिस पर चलकर अपना कल्याण हो।

यह पुस्तक धम्मपद का अनुवाद है और विपश्यी साधकों तथा जो साधक नहीं भी हैं, उन दोनों के लिये आदर्श पुस्तक है।

Vipassana Meditation as Taught by S.N. Goenka
in the Tradition of Sayagyi U Ba Khin

ISBN 81-7414-217-7

VRI - H39